लेखक

सन्तराम

ओ३म्

धर्मतत्व विवेक

लेखक

सन्तराम

सन्तराम ग्रन्थ माला का प्रथम पुष्प

धर्म-तत्त्व-विवेक

या

(धर्म की परिभाषा)
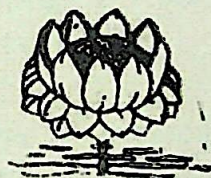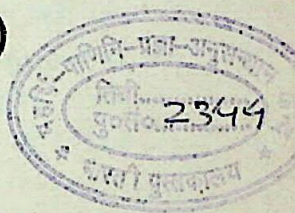
लेखक

सन्तराम

उद्देश्य

मानव समाज में वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न होकर नैतिकता एवं मानवता का विकास हो। सब सुखी हों, धर्म को ग्रहण कर सन्मार्गी बनें। विश्व का कल्याण हो, ईश्वर सबको जीवन ज्योति को देदीप्यमान करे।

प्रथम संस्करण १००० सन् १९७८ ई०

प्रकाशक

स्वयं लेखक

मूल्य तीन रुपया।

मुद्रक :—

कृष्णा प्रेस, बलरामपुर।

आशीर्वाद !

मेरे पूर्व शिष्य श्री सन्तराम जी विचारशील एवं परम सात्विक जीवन के व्यक्ति हैं। इनका जीवन अनुकरणीय है। ये मेरे शिष्य हैं पर मुझे स्वयं इन पर श्रद्धा है "धर्मतत्वविवेक" इनकी लेखनी से प्रसूत होकर पाठकों का कल्याण करेगा इसमें सन्देह नहीं। अपनी अकिंचन अवस्था में भी पुस्तक प्रकाशित कराने का प्रयास प्रशंसनीय है। पुस्तक लोक प्रिय हो यह मेरी शुभ कामना है।

ॐ श्री हरिः

शिव शरण पाण्डेय

एम० ए० (अंग्रेजी, हिन्दी) साहित्यरत्न
अवकाश प्राप्त प्राचार्य डी० ए० वी० इन्टर कालेज
बलरामपुर। शिव कुटी, नयी बस्ती बलरामपुर।

पुस्तक प्रकाशन रूपी यज्ञ में जिन उदार हृदय महानुभावों ने द्रव्याहुति डाली है मैं उनका अन्तः करण से कृतज्ञ हूं।

सन्तराम

स नो ज्योतींषि पूर्व्य पवमान विरोचय।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु ॥
[वेद]

पदार्थ :— (पूर्व पवमान) हे सर्व प्रथम पूज्य, पवित्र कारक, अनादि परमात्मन् ! (नः ज्योतींषि) आप हमारे ज्ञान को (विरोचय) प्रकाशित कीजिये और (नः) हमको (क्रत्वे दक्षाय हिनु) शक्ति प्रद यज्ञ · शुभ कर्म के लिये उद्यत कीजिये, प्रसन्न कीजिये।

भावार्थ:— जो लोग परमात्मा की ज्योति का ध्यान करते हैं वे पवित्र होकर नित्य शुभ कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं।

o———o

वेदोऽखिलो धर्म मूलम्

(मनु स्मृति)

वेद सब धर्मों का मूल है।

किञ्चिद्वक्तव्य

धर्म, सभ्यता, संस्कृति एवं शिक्षा जैसे शब्दों की अर्थ व्यक्ति एक दो शब्दों द्वारा नही किया जा सकता, मानव समाज का प्रत्येक व्यक्ति इस सम्बन्ध में अपना पथक पृथक दृष्टिकोण रखता है। समय समय पर इसकी व्याख्या मनीषियों तथा धर्म गुरुओं ने की है। इस लघु ग्रन्थ में मात्र धर्म के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण और भारतीय तत्व चिन्तकों द्वारा विवृत व्याख्या को विस्तृत रूप से समझने तथा समझाने की चेष्टा मैंने की है। धर्म विषयक अपने विचारों को पाठकों के समक्ष रखना चाहता हूं। पाठक विचार करें कि मेरा दृष्टिकोण न्याय संगत है कि असंगत ? मैं किसी को वाध्य नही करता कि धर्म के सम्बन्ध में जो मेरा सिद्धान्त है स्वीकार करें। धर्म की जिज्ञासा का जन्म प्रत्येक मानव मस्तिष्क में समय विशेष में होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में धर्म क्या है प्रश्न उद्भूत होता है। यह प्रश्न सिद्ध करले या न सिद्ध कर सके, यह उसकी अपनी योग्यता या ज्ञान शक्ति पर तर्क शक्ति पर आधारित है।

समाज में देखा जाता है कि धर्म तत्व न समझाने वाले भी कहते हैं कि मैं धर्म को जानता हूँ। और धर्म की परिभाषा निश्चित कर देते हैं। इतिहास हमें बताता है कि धर्म तत्व को न समझाने के कारण ही धार्मिक युद्ध राजनैतिक युद्ध से कम नही हुये। धार्मिक आवेश में आकर मतवालों ने क्या क्या नही किया ? धार्मिक मत भेद होने के कारण अनेक धर्म गुरुओं की हत्यायें हुयी हैं। ईशामसीह, शंकराचार्य, महर्षि दयानन्दादि उसके दृष्टान्त हैं। इनकी निर्मम हत्यायें हृदय को विदीर्ण कर देते हैं। धर्म से ही

प्रेरित होकर लोग करोड़ों रुपया व्यय करके मंदिर तथा धर्मशालायें निर्माण करते हैं। धर्म से ही प्रेरित होकर, अन्न, वस्त्र, विद्यादि दान करते हैं। धर्म से ही प्रेरित या प्रभावित होकर पुत्र पिता की आज्ञा पालन करता है। स्त्री अपने पति के अनुशासन में रहती है। धर्मोद्देश्य तीर्थाटन करवाता है। योगि गण अरण्य विचरण करते हैं। तिलक, माल, जटा जूटादि से अपने तन को विभूषित करते हैं। विभिन्न प्रकार से ईश्वर पूजन का विधान सृजन करते हैं। नाना प्रकार के यज्ञों का विधान, वाचिक, मानसिक, उपांसु जप, मठों का निर्माण, आश्रमोद्घाटन करते हैं। धर्म की मीमांसा आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। रचना काल १६७७ ई०। 'इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में जो विद्वान महानुभाव लोक कल्याण को दृष्टिकोण में रखते हुये मुझे उचित परामर्श देंगें, उसको मैं तृतीयावृत्ति में प्रकाशित करूंगा यदि उचित होगा।

विद्वानों का सेवक :—

—सन्तराम

❀ ओ३म् ❀

धर्म तत्व विवेक

प्रथम किरण

धर्म शब्द का प्रयुक्तार्थः—

(१) वेद विहित कर्म जैसे–यज्ञ।
(२) एक प्रकार का अदृष्ट स्वर्ग प्राप्ति का कर्म विधान, दानादि।
(३) लौकिक, सामाजिक कर्तव्य।
(४) वह कर्म जिसे वर्ण, आश्रम, जाति आदि की दृष्टि से करना आवश्यक हो, इसके ५ भेद हैं। (१) वर्ण धर्म (२) आश्रम धर्म (३) वर्णाश्रम धर्म (४) गौण धर्म (५) नैमित्तिक धर्म।
(५) ऋषि मुनियों आचार्य द्वारा निर्दिष्ट वह कृत्य जिससे पार-लौकिक सुख प्राप्त हो।
(६) गुण।
(७) किसी वस्तु या व्यक्ति में सदा बनी रहने वाली सहज वृत्ति, स्वभाव, प्रकृति।
(८) ईश्वर या सद्गति प्राप्त्यर्थ किसी महात्मा या पैगम्बर द्वारा प्रवर्तित मत विशेष।
(९) राजा या सरकार द्वारा निर्दिष्ट लोक व्यवहार सम्बन्धी नियम।
(१०) पुण्य, निष्पक्षता, औचित्य, याग अहिंसा।

धर्म से बनने वाले कुछ शब्दों की व्याख्याः—

धर्म कथक :—नियम की व्याख्या करने वाला।
धर्म कर्म :— धार्मिक कृत्य।
धर्म काम :—जो कर्तव्य बुद्धि से धार्मिक कृत्य करें।
धर्म काय :—बुद्ध
धर्म कृच्छ्र :—ऐसी स्थिति जिससे धर्म पालन करना कठिन हो।
धर्म केतु :—बुद्ध
धर्म कोष :—विधान कोष
धर्म क्रिया :—धार्मिक कार्य
धर्म गुप्त :—विष्णु।
धर्म ग्रन्थ :—धर्म विशेष का आधार भूत ग्रन्थ, वह ग्रन्थ जिसमें किसी धर्म से संबद्ध शिक्षायें दी हो।
धर्मघट—शुगंधित जल से भरा हुआ घड़ा जिसे कुछ भोज्य वस्तुओं के साथ वैसाख भर दान करना पुण्यकर कहा गया है।
धर्मघ्न —अनैतिक, अविहित, धर्म न पालन करने वाला।
धर्म चक्र—धर्मसंघ, बुद्धदेव, बुद्ध की शिक्षा, एक अस्त्र जो प्राचीन काल में प्रयोग होता था।
धर्माचरण—धर्म का आचरण।
धर्मचारी—तपस्वी, सन्यासी, जो धर्मानुकूल आचण करे।
धर्मचिंतन—धार्मिक विषयों का चिन्तन।
धर्मच्युत—धर्मभ्रष्ट
धर्मज—प्रथम औरस पुत्र, युधिष्ठिर, एक बुद्ध। धर्म से उत्पन्न।

धर्मजन्य—जिसकी उत्पत्ति धर्माचरण से हो।
धर्म जिज्ञासा—धार्मिक विषयों की जानने की इच्छा, धर्म के साधन भूत कर्मों की जिज्ञासा।
धर्म जीविका—धार्मिक कार्य कराकर जीवन निर्वाह करना।
धर्मज्ञ—जिसे धर्म के स्वरूप का ज्ञान हो।
धर्म त्याग—धर्म को छोड़ देना,
धर्मत्राता—धर्म रक्षक
धर्मद—जो अपने धर्म का फल दूसरे को दे दे।
धर्मदान—सात्विक दान, निष्काम दान।
धर्मदार—धर्मपत्नी।
धर्म दुधा—वह गाय जिसका दूध केवल धार्मिक कार्य के लिये ही दुहा जाता हो।
धर्मदेशक—धर्मोपदेशक।
धर्मद्रवी—गंगा, मंदाकिनी।
धर्मद्रोही—दैत्य, अधर्मी, धर्म से द्रोह करने वाला।
धर्मधुर्य—जो धर्म पालन में बढ़चढ़ कर हो।
धर्म ध्वज, धर्मध्वजी—वह जिसने धार्मिकता का ढोंग रचा हो, पाखंडी।
धर्म नन्दन—युधिष्ठिर।
धर्मनाम—विष्णु
धर्म निवेश—धर्म में भक्ति।
धर्म निष्ठ—जो धर्म में निष्ठा रखता हो।
धर्म निष्पत्ति—धर्म का पालन।
धर्म पट्ट—व्यवस्था पत्र।
धर्म पति—वरुण।

धर्म पत्नी – धर्मशास्त्र के अनुसार व्याही हुयी स्त्री।
नोटः–सामाजिक याविहित नियमों का उलंघन कर जो लोग पत्नी बना लेते हैं वह स्त्री धर्म पत्नी नही है।
धर्मपथ—धर्म का मार्ग।
धर्मपरायण—धर्म में निष्ठा रखने वाला।
धर्म पाठक—धर्म शास्त्र पढ़ने या पढ़ाने वाला।
धर्मपाल—धर्म रक्षक, जिसके भय से लोग धर्म विरुद्ध आचरण नही करते।
धर्म पीठ—धर्म का मुख्य स्थान, वह स्थान जहां धर्म की व्यवस्था की जाय। काशी आदि तीर्थ स्थान।
धर्म पुत्र—युधिष्ठिर, धार्मिक भावना से उत्पन्न किया हुआ पुत्र।
धर्म पुरी—यमपुरी, न्यायालय।
धर्म पुस्तक—धम ग्रन्थ। मनुस्मृति आदि।
धर्म प्रतिरूपक—किसी संपन्न मनुष्य द्वारा दुख भोगते हुये स्वजनों की उपेक्षा करके केवल यश के लिये दूसरो को दिया गया दान। ऐसा दान धर्म का आभास मात्र है।
धर्म प्रभास—बुद्ध देव,
धर्मप्रवक्ता—धर्म निर्णायक
धर्म वल—धर्म का बल धर्माचरण का बल।
धर्म वाह्य—धर्म विरुद्ध, धर्म से दूर वाहर।
धर्म बुद्धि—धर्म की ओर प्रवृत्त वुद्धि, अधर्म, धर्म का विवेक करने वाली वुद्धि।
धर्म भगिनी—जो धर्म कारण वहिन लगे। गुरु कन्या।
धर्म भागिनी—धर्म परायणा पत्नी।
धर्म भिक्षुक—धर्मार्थ भिक्षा मागने वाला।

धर्म भीरु—जो धर्म से डरता हो।
धर्म भृत्—धर्म परायण व्यक्ति।
धर्म भ्रष्ट—पतित। गिरा हुआ।
धर्म भ्राता—वह मनुष्य जो धर्म के नाते भाई लगे। गुरु पुत्र।
धर्म भति—जिसकी मति धर्म की ओर हो।
धर्म महामात्र—धर्म विभाग का मंत्री।
धर्मसूल—वेद, धर्म का प्रामाणिक आधार; धर्मज्ञों का आचार;
धर्म मेघ—योग में एक समाधि जिसमें योगी चित्त वृत्तियों से मुक्त हो जाता है।
धर्म यज्ञ—वह यज्ञ जिसमें किसी की हिंसा न हो।
धर्म युग—सत्य युग।
धर्म युद्ध—न्याय पूर्ण युद्ध।
धर्म रक्षक—धर्म त्राता।
धर्म रत—धर्म परायण।
धर्मरति—धर्मानुराग।
धर्म राय—धर्मराज।
धर्म रोधी—धर्म विरुद्ध।
धर्म राज— युधिष्ठिर।
धर्म लक्षण—वेद।
धर्म लुप्तोपमा—उपमालंकार का एक भेद, जिसमें धर्म का उपमेय-उपमान में समान रूप से पायी जाने वाली बात का कथन किया गया हो।
धर्म वत्सल—जिसे धर्म प्यारा हो।
धर्मवर्ती—जो धर्मानुकूल आचरण करे।
धर्मवर्धन—शिव,

धर्मवर्मा—धर्मरक्षक ।

धर्मवाद—धार्मिक नियम पर वाद विवाद ।

धर्मवासर—पूर्णिमा ।

धर्मवित्—धर्मज्ञ ।

धर्मविद्या—धर्म ज्ञान कराने वाली विद्या, जैसे मीमांसा ।

धर्म विप्लव—धर्म का व्यतिक्रम ।

धर्मवीर—वह जिसे धर्म पालन के प्रति अदम्य उत्साह हो कि किसी भी स्थिति में अपने धर्म से न डिगे ।

धर्मवृद्ध—जो धर्माचरण की दृष्टि से श्रेष्ट हो ।

धर्म वैतंसिक—वह जो अधर्म से पैसा कमाकर अपने को धार्मिक सिद्ध करने के लिए बहुत दान पुण्य करता हो ।

धर्मव्याध—मिथिला निवासी एक व्याध जो कौशिक नाम के तपस्वी को धर्म तत्व समझाया ।

धर्म व्रता—मरीचि ऋषि की पत्नी जो परम साध्वी थी ।

धर्मशाला—वह स्थान जहाँ धर्मार्थ अन्नादि बटता हो । यात्रियों के लिये निशुल्क रहने के लिये बनवाया गया भवन ।

धर्मशास्त्र—वह आज ग्रन्थ जिसमें मनुष्य के कर्तव्याकर्तव्य, दाय विधान आदि की व्यस्था हो, (मनु, याज्ञवल्क्य, आदि की स्मृतियाँ

धर्म शास्त्री—धर्म शास्त्र का पंडित ।

धर्मशील—धर्मानुष्ठान में बराबर लगा रहे ।

धर्म संहिता—वह ग्रन्थ जिसमें धार्मिक कार्यों का प्रतिपादन हो ।

धर्म सहाय—धार्मिक कृत्यों में साथ देने वाला, जैसे ऋत्विक ।

धर्मसार—उत्तम, पुण्य कर्म ।

धर्म सूत्र—जैमिनी रचित धर्म मीमांसा विषयक एक ग्रन्थ ।

धर्मसेतु—धर्म त्राता, शिव, धर्म रक्षक ।

धर्मस्थ—विचार पति,
धर्मतः—धर्म के अनुसार,
धर्मवान्—धर्मात्मा, धर्म निष्ठ।
धर्मान्तर—अन्य धर्म,
धर्मान्ध—स्वधर्म में अन्ध श्रद्धा और दूसरे धर्मों के प्रति तिरस्कार या द्वेश का रखने वाला, धर्म के नाम पर लड़ने वाला।
धर्मागम—धर्म ग्रन्थ,
धर्माचार्य—धर्म की शिक्षा देने वाला गुरु।
धर्मातिक्रमण—धर्म का उल्लंघन।
धर्मादा—धर्मार्थ निकाला हुआ धन।
धर्माधिकरण—न्यायालय, न्यायाधीश।
धर्माधिकर्णिक—विचारक
धर्माधिकरणी—न्यायाधीश
धर्माधिकृत—धर्माध्यक्ष
धर्माधिष्ठान—न्यायालय
धर्मानुष्ठान—धर्माचरण।
धर्मानुस्मृति—धर्म का अनुचिन्तन।
धर्माभास—श्रुति, स्मृति से भिन्न शास्त्रों द्वारा उक्त असद्धर्म।
धर्मारण्य—तपोवन। गया के अन्तर्गत एक तीर्थ।
धर्मार्थ—परोपकार के निमित्त
धर्मावतार—परम धर्मात्मा।
धर्मावसथि धर्मावस्थाथी—धर्म विभाग का अधिकारी
धर्माश्रित—धर्म सम्मत,
धर्मासन—वह आसन जिस पर बैठकर न्यायकर किया जाय।

धर्मास्तिकाय—जीव आदि बहु प्रदेश व्यापी पदार्थ (जै०)
धर्मिणी—जाया. धर्म करने वाली।
धर्मिष्ठ—अत्यन्त धर्मात्मा, पुण्यात्मा।
धर्मी---पुण्यात्मा, धर्म धर्म करने वाला।
धर्मेन्द्र—यमराज, युधिष्ठिर।
धर्मेयु—एक पुरुवंशी राजा।
धर्मेश, धर्मेश्वर—यमराज, धर्म निर्णायक।
धर्मोत्तर—जो धर्म में बढ़ चढ़ कर हो।
धर्म्य—धर्म संगत, पुण्यकर
धर्मोपाध्याय –पुरोहित,
धर्मोपदेश—धर्म का उपदेश।
धर्मोपदेशक—धर्म शिक्षक।

धर्म जब उपसर्ग के रूप में प्रयोग होता है तब अनेकों शब्द बन जाते है। यहां किंचित संकेत मात्र कर दिया गया है।

द्वितीय किरण

प्रकाश का ज्ञान अन्धकार के कारण होता है। अतः धर्म का स्वरूप समझने के लिये अधर्म का ज्ञान होना आवश्यक है। धर्मतत्व से अवगत होने के लिये : प्रथम यह समझ लें कि अधर्म क्या है? अधर्म की भी परिभाषा समाज ने विभिन्न प्रकार से की है। विभिन्न देश परिस्थितियों में अधर्म का रूप विभिन्न है। ऐसे भी विचारक संसार में उत्पन्न हुए हैं जो धर्माधर्म, पाप पुण्य में भेद ही नहीं करते ऐसे समाज शास्त्रियों अथवा सिद्धान्तवादियों से समाज का अहित हुआ है, प्रसंग वस एक दृष्टान्त दे रहा हूँ:—

पाप और पुण्य [चित्रलेखा से उद्धृत]

संसार में पाप कुछ भी नहीं है। वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है · प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार की मनः प्रवृत्ति लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति इस संसार के रंग मंच पर एक अभिनय करने आता है। अपनी मनः प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपने पाठ को वह दुहराता है-यही मनुष्य का जीवन है जो कुछ मनुष्य करता है वह उसके स्वभाव केअनुकूल होता है और स्वभ व प्राकृतिक है मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है विवश है वह कर्त्ता नहीं है केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा?

मनुष्य ममत्व प्रधान है । प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है। परन्तु व्यक्तियों के सुख केकेन्द्र बिंदु भिन्न होते हैं। कुछ सुख को धन में देखते हैं, कुछ सुख को मदिरा में देखते हैं । कुछ सुख को सत्कर्म में देखते हैं और कुछ दुष्कर्म में, कुछ सुख को त्याग में देखते है और कुछ संग्रह में, पर सुख प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कोई भी व्यक्ति संसार में अपनी इच्छानुसार ऐसा काम नहीं करेगा जिससे दुख मिले। यही मनुष्य की मनः प्रवृत्ति है और उसके दृष्टि कोण की विषमता है संसार में इसी लिये पाप की एक परिभाषा नही हो सकी न हो सकती है । हम न पाप करते हैं न पुण्य करते हैं हम वही करते हैं जो हमें करना पड़ता है।

ले०-चित्रलेखा का प्रेरणा स्रोत अनातोले फ्रांस का उपन्यास थायस माना जाता है दोनो के कथानक में समता है । लेखक विदेशी साहित्य से प्रभावित है। तर्क हीन लेखक ने महान भूल की है उपर्युक्त पाप पुण्य के तर्क में वैज्ञानिकता नहीं है। अपने मन और इन्द्रियों को नियन्त्रित न करने वाला वासना बद्ध व्यक्ति ही ऐसा लिख सकता है । यदि पाप पुण्य, मदिरा पान, सत्कर्म और दुष्कर्म में प्रभेद न माने, स्वछन्द मनः प्रवृत्ति को प्राकृतिक स्वीकार करलें, सैद्धान्तिक रूप से अधर्माधर्म कुछ भी नहीं हैं ?तो यह वाममार्गी स्वतन्त्र भोग वाद होगा । ऐसे व्यक्ति का जीवन पथ ऐसा अंधकार मय होगा कि उसको पता भी नही चलेगा कि वह कहां डूब जायेगा उसका जीवन अशान्ति मय हो जायेगा ।

योग दर्शन के सभी साधन व्यर्थ हो जायेंगे । जिसको तत्व दर्शियों ने मन को नियन्त्रित करने के निमित्त अन्वेषण किया था ।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा

[योग शास्त्र]

अर्थमन को अथवा चित्त वृत्तिअथवा मनः प्रवृत्ति को रोकने के लिये जो योगाभ्यास किया जाता है। एक अवस्था ऐसी आती है। जिसमें ऋत = सत्य = विकल्प रहित बुद्धि हो जाती है। वह सत्य स्वरूप को ही देखना चाहता है।

अभ्यास वैराग्याभ्याम् तन्निरोधः ॥

(योग शास्त्र)

वार बार अभ्यास और वैराग्य से मनः प्रवृत्तियों का निरोध होता है।

तत्र स्थितौ यत्नो ऽभ्यासः।

(योग दर्शन)

मनः प्रवृत्ति को स्थिर करने के लिये यत्न करना अभ्यास कहाता है।

स तु दीर्घं कालनैरन्तर्य सत्कारा सेवितो दृढ़ भूमिः

(योग दर्शन)

अभ्यास बहुत दिन तक करने से दृढ़ भूमि हो जाता है जड़ पकड़ जाता है। बहुत समय तक तप ब्रह्मचर्य, प्राणायामादि करते रहने से इतर पदार्थों से अप्रीत अलिप्तता होने से मन एकाग्र हो जाता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा (योग दर्शन)

ईश्वर भक्ति विशेष से मनः प्रवृत्ति स्थिर होती है। (निर्बीज समाधि की सिद्धि होती है)
गीता में भी:—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (६।३५)

हे कुन्तीपुत्र। अभ्यास और वैराग्य से मनवश में होता है।

वेद में मन को शुभ प्रवृत्ति वाला, और दृढ़ निश्चयी करने के लिये प्रार्थना की गयी है —

शिव संकल्प सूक्तम्

यज्जाग्रतो दूर मुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरङ्गमं ज्योतिषाँ ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव सकल्पमस्तु
(यजुर्वेद ३४।१)

जागते हुये का जो दिव्य मन दूर चला जाता तथा सोते हुये का पुनः वही मन उसी प्रकार चला आता है।

दूर गामी प्रकाशों में अद्वितीय ज्योति रूप मेरा मन शुभ सङ्कल्पवाला हो।

सत + रज + तम जो त्रिगुणात्मक प्रकृति है और उससे प्रभावित अथवा प्रेरित जो मनः प्रवृति है उसे अभिमुख करने के लिये प्रयत्न न करना अकर्मण्यता का द्योतक है मनः प्रवृति को स्वाभाविक स्वीकार करना अपनी आत्म हत्या है अपने को धोखा देना है। क्योंकि जीवन का उद्देश्य निश्चित है, अनिश्चित नहीं है। जब हमारे जीवन का लक्ष्य

किसी भी परिस्थिति में निर्धारित हो जाता है। चाहे, विद्या की प्राप्ति हो धन की प्राप्ति हो, स्वास्थ्य की प्राप्ति हो। मुक्ति की प्राप्ति हो मनः प्रवृति को उस ओर करना ही पड़ेगा। यदि मनःप्रवृत्ति को प्राकृतिक स्वीकार करलेते तो संसार के महापुरुष अपना कार्य न कर पाते।

चित्रलेखा का लेखक पाप पुण्य की परिभाषा दे सकने में असमर्थ है। क्यों ? निम्ब के कीटाणु को तिक्तता में मधुरत्व ही दृष्टि गोचर होता है।

धर्माधर्म या पुण्य पाप की स्थूल की परिभाषा:—

पुण्य अथवा धर्म—कर्तव्य—जो करना चाहिये क्यों करना चाहिये ? जिससे अपना, समाज का राष्ट्र का प्राणियों का हित होता है।

अधर्म या पाप—अकर्तव्य – जो नहीं करना चाहिये क्यों नहीं करना चाहिये ? जिससे अपना, समाज का राष्ट्र का और अन्य प्राणियों का अहित होता है। बुद्धिमानों द्वारा धर्म की कुछ परिभाषायें निश्चित की गई हैं। वे पूर्ण नहीं है। उसमें विरोधात्मक तथ्य उत्पन्न हो जाते हैं जैसे:—

अहिंसा परमो धर्मः—

प्राणियों को न मारना परम धर्म है। किन्तु आततायियों को मारना ही धर्म है। प्राणियों को हानि पहुँचाने वाले विषैले कीटाणुओं को नष्ट करने का आदेश वेद भी देता है। अथर्ववेद में इसका प्रमाण मिलता है।

गर्भपात करने वाले के हृदय को वाण से वेध कर राजा उसे नष्ट करदे। ऐसा निर्देश हमें वेद देता है।

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जात वा मारयाति ते। पिङ्गस्त-मुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम्॥ [८। ६। १८

[अथर्ववेद]

भावार्थ हे स्त्रीः! (यः) जो ते) तेरे, (गर्भम्) गर्भ को (प्रति मृशात) दवा देवे, (वा) अथवा, (ते) तेरे (जातम्) उत्पन्न बालक को (मारयाति) मार डाले, (उग्रधन्वा) पचंड धनुष वाला, (पिङ्गः) पराक्रमी पुरुष (तम) उसको, हृदयाविधम) [कृणोतु] हृदय में वेध करे।

भा० भ्रूण हत्यारे और बाल हत्यारे की छाती में छेद करके नष्ट कर देवे।

यदि पापियों को नष्ट न किया जाय तो पापमार्गी को प्रोत्साहन मिलेगा अधर्म का साम्राज्य हो जायेगा, दिर्वल को सबल खा लेगा। विश्व में अशान्ति फैलेगी। मानव समाज की सम व्यवस्था विषम हो जायेगी। ऐसी परिस्थिति में हिंसा ही धर्म है। इस प्रकार की हिंसा नहीं कहा जाता है।

वैदकी हिंसा हिंसा न भवति। इसका भाव न समझकर यज्ञों में पशु बलि धर्म का अंग समझा जाने लगा था। यह कर्म कांडियों की हिमालय जैसी महान भूल थी।

लोक में हम अनुभव करते हैं एक अधिकृत अधिकारी न्यायालय के नियमों के द्वारा अपराधी को दंडित कर सकता है किन्तु अनधिकृत व्यक्ति उसे दंडित नही कर सकता। एक व्यक्ति के लिये जो कर्तव्य है वही दूसरे व्यक्ति के लिये अधिकार भेद से अधर्म है। एक गृहस्थ को स्त्री से स्नेह करना धर्म है तो ब्रह्मचारी के लिये स्त्री के प्रति उदासीनता ही श्रेयसकर है।

धर्म के सूक्ष्म तत्व को जानना चाहिए। धर्म की परिभाषा ऐसी होनी चाहिये जिसमें विरोधात्मक तथ्य न हों। अतः अहिंसा परमो धर्म, धर्म की अपूर्ण परिभाषा है। दूसरे को जीवित रहने देना भी अहिंसा का अर्थ है। अत जिस किसी भी कार्य से दूसरे के जीवन में व्यवधान उत्पन्न होता है वही हिंसा है। किन्तु सम्पूर्ण तत्व नहीं हैं। मनुस्मृति द्वारा निश्चित परिभाषा अति प्रसिद्ध हैं:-

धृति; क्षमा दमोऽस्तेयं शौच मिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

(१) धृति-धीरज रखना, धैर्य (२) क्षमा—हानि करने वाले को दंड न देकर छोड़ देना। ३ दम—इन्द्रिय दमन (४) अस्तेय—चोरी न करना [५] शौच—पवित्र रहना [६] इन्द्रिय निग्रह—इन्द्रियों की देख रेख [७] धी शास्त्र ध्ययन द्वारा बुद्धि वृद्धि [८] विद्या—आत्मा परमात्मा एवं प्रकृति के स्वरूप को जानना। (६) सत्य निज ज्ञान के विपरीत न कहना। [१] अक्रोध—क्रोध न करना।

उपर्युक्त धर्म की परिभाषा प्रत्येक व्यक्ति के लिए व्यावहारिक नहीं दीख पड़ता है। क्यों ? सामाजिक जीवन में व्यवधान उत्पन्न हो जायगा, मनुष्य सामाजिक प्राणी हैं समाज में सम्बन्ध स्थापित कर आगे बढ़ना है। क्या दशो लक्षणों को धारण करके निर्वाह कर सकेगा ? क्या दृढ़ता से पालन कर सकता है ? विवेचनीय है।

मीमांसा-- १--धृति को धारण करने वाले व्यक्ति का धैर्य क्या उस समय स्थिर रहेगा जब उसके पुत्र का आकस्मिक निधन किसी कारण वस हो जायेगा ? धृति का धारण उतना कठिन नही जितना सर्मास्थ्ति पर स्थिर रखना। धर्यवान होना एक उत्तम गुण है किन्तु महात्मा जनक रोने लगे थे जब सीता जी को विदा किया था। ममत्व ने झकझोर दिया था।

क्षमा--साधु पुरुष, निर्दोष हो, उसको चोर क्रूर, अत्याचारी, लोग बार बार पीड़ित करें, प्रायः समाज में क्षमाशील को ही सताते हैं। तो क्या यही धर्म है कि वह क्षमा सदैव करता रहे।

महामुनि कपिल ने सगर पुत्रों को क्षमा नहीं किया था। क्षमा का लक्षण व्यवहारिक नहीं दीख पड़ता है। सदैव क्षमा से काम नहीं चलेगा।

३--दम-इन्द्रिय दमन, इच्छावरोधन, वासनाओं को रोकना धर्म का तृतीय लक्षण बताया गया है।

नव विवाहिता पत्नी युवा अवस्था में है इसे मातृ ऋण से उऋण होना है। युवा गृहस्थ यदि इस तृतीय धर्म को स्वीकार करके योगाभ्यास करने बैठे और कहे कि धर्म पालन करूंगा क्योंकि मनु महाराज की आज्ञा है इन्द्रिय दमन तो पाठक ही सोचे क्या परिणाम होगा ? प्रत्येक परिस्थिति, में अथवा सदैव 'इन्द्रिय दमन धर्म नहीं' है, न शोभनीय है न उचित है। अतः इन्द्रिय दमन स्थायी धर्म की परिभाषा नहीं हो सकती है।

[४]- अस्तेय-चोरी न करना, ज्ञान प्राप्त करना सबका अधिकार है=बुद्धि की चोरी, ज्ञान ग्रहण लज्जा जनक नही है। समाज में देखा जाता है कि सबल व्यक्ति सहस्त्रों व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों को छीन कर स्वयं इच्छानुसार ऐस आराम करता है, वह व्यक्ति चोरी करने के लिये दूसरे को वाध्य करता है। है यदि धनी व्यक्ति यह उपदेश देता है कि चोरी नही करना चाहिये तो मौलिक अधिकार से संबन्धित सम्पत्ति को देना उसका भी कर्त्तव्य है। मेरी सम्मति यह नहीं है कि चोरी करना चाहिये।

५-शौच-पवित्र रहना धर्म है किन्तु नारी रजो धर्म समय में पवित्र नहीं रहती है। इसका भी पालन स्थायी रूप से नही हो सकता। ऐसा लगता है कि धर्म के सूक्ष्म तत्व से हम अभी दूर हैं।

६- इन्द्रिय निग्रह--सुप्तावस्था में प्रत्येक व्यक्ति विवस होता है। ऐसी वेवसी में मन स्वछन्द होकर मनमानी कार्य करता है।

७- धी- प्रत्येक व्यक्ति शास्त्र अध्ययन कर ज्ञान की वृद्धि कैसे करेगा। ? बुद्धि हीन, नेत्रहीन, गूंगा, बहरा क्या। करेगा ? अत धी को सभी धारण नही कर सकते हैं।

४-विद्या -आत्मा परमात्मा, एवं प्रकृति के स्वरूप को जानना। यह भी प्रत्येक व्यक्ति के लिये सुलभ नही, संसार में सांसारिक कार्यों में लोग इस प्रकार विधे हैं कि उनमें अध्यात्मिक विचार होना कठिन है।

६ सत्य ज्ञान के विपरीत, न कहना।

जीवन में अनेको ऐसी परिस्थितियां आती हैं असत्य जहां असत्यभाषण मेरी सम्मति में अधर्म नहीं होगा। अचानक किसी गृहस्थ के घर पर चोरों या डाकुओं ने अचानक आक्रमण कर दिया यदि गृहस्थ झूठ बोलकर अपने धन की रक्षा करके अपनी युक्तियों से डाकुओं को पकड़ ले तो वहां झूठ बोलना ही धर्म हो जायगा। किन्तु सदैव झूठ बोलना सत्य मार्ग से विचलित होना है। परन्तु सत्य को आत्मसात कर लकीर का फकीर होना, बुद्धि मता नही कही जायेगी।

१०--अक्रोध-- क्रोध न करना

धर्माज्ञा है कि क्रोध नहीं करना चाहिये।

१-साम्राज्यवादी दृष्टिकोण का शासक अचानक देश पर आक्रमण करदे।

२--हमारी कन्याओं एवं भगिनियों को कुदृष्टि से कोई क्रूर व्यक्ति देखे।

३—कोई व्यक्ति हमारे साथ विश्वास घात करे।
उपर्युक्त स्थितियों में हम अक्रोध का माला लेकर जाप करने बैठेगे तो मेरा निश्चय विनाश होगा। ऐसे समय में क्रोध करना ही मेरा धर्म होगा। और समयोचित होगा।

मनु द्वारा धर्म के लक्षण की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं। ये धर्म सन्यासों के लिये ही उपयुक्त हैं किन्तु सर्व साधारण के लिये नहीं।

गुफाओं में रहकर जन कोलाहल से पृथक होकर ऐसे धर्मों का पालन कोई योगी ही कर सकता है। किन्तु सार्वभौम सिद्धान्त नही।

महराज युधिष्ठिर से जब धर्म के स्वरूप को पूछा गया तो उनको बड़ी कठिनाई हुयी उन्होंने यही कहा कि :—

धर्मस्व तत्वं निहितं गुहायां।
महजनो येन गत. स पन्था ॥

धर्म का तत्व समझना बड़ा कठिन है महापुरुष लोग जिस सत्य मार्ग से चलें, उन्हीं का अनुशरण करना चाहिए।

यत् देवाः अकुर्वन् तत् करवाणि।
(श० ब्रा०)

जैसे देवों ने किया, वह मैं करूँ।

जाया पत्ये मधुमतोम् वाचं वदतु शन्तिवाम्।
अर्थ—स्त्री पति से मधुरता पूर्ण शान्ति से भरी वाणी बोले।
(अथर्ववेद)

तृतीय किरण

आचारः परमो धर्मः ।

(मनु०)

आचार संहिता द्वारा निर्दिष्ट आचारण, परम धर्म है। इसका पालन करना चाहिये प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। करना भी चाहिए, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति पारिवारिक सामाजिक, सांस्कृतिक, एवं राष्ट्रान्तर्गत नियमों के बन्धन से मुक्त नहीं है। जब कोई व्यक्ति नैतिकता, एवं आचरत्व का आदर्श उपस्थित करना चाहता है तो राज्य नियम और सामाजिक परिस्थितियां उसके मार्ग में विघ्न डाल देती है। यह दुर्भाग्य और समय की देन है। सहस्त्रों अधर्मियों के मध्य में रहकर एक व्यक्ति धर्म का पालन कैसे करेगा ? व्यक्ति समाज का इकाई है व्यक्ति से समाज बनता है। समाज से राष्ट्र। हमे हार नहीं स्वीकार करना चाहिये विघ्न बाधाओं के होते हुये अपने आचरण को कलुषित नहीं करना चाहिये। महान व्यक्ति राष्ट्र को भी ठीक कर सकता है।

सामाजिक जीवन संघर्ष में हम केवल आचरण ठीक करके सफल नहीं हो सकते, आचरण ठीक करने के अतिरिक्त कुछ कार्य करने करने पड़ते हैं। जो कर्तव्यान्तर्गत है। धर्माङ्ग है जिसका निर्देश आचारः परमोधर्मः में नहीं है अतः धर्म का सर्वाङ्ग तत्व नहीं है, मुख्यांङ्ग है वैयक्तिक है। प्रत्येक को आचरण पर ध्यान देना चाहिये।

पर हित सरिस धर्म नहि भाई।
पर पीड़ा सम नहि अधमाई ॥

(गोस्वामी तुलसी दास जी)

परोपकार के समान धर्म और दूसरे को दुख देने के समान अधर्म नही। यह सत्य है संत का ह्रदय ऐसा ही होता है। जीवन धारण करने के लिये अपने लिये भी कुछ करना होगा। संसार का प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ में लिप्त है और कार्य कर रहा है। अपने लिये परिवार के लिये। जिसका एक माना हुआ परिवार है और वे उसके आश्रित हैं। तो उसका धर्म है कि अपने कुटुम्ब के लिए कुछ करे। परोपकार की सीमा नहीं निर्धारित है कितना करें। एक व्यक्ति दूसरे का परोपकार करे, तो दूसरे व्यक्ति का भी धर्म है कि उसके साथ करे इस प्रकार समन्वय स्थापित होकर समाज कार्य संतुलित हो सकता है। किन्तु आवश्यक नही संभव नहीं, कि सभी परोपकारी ही होगें। विश्व में विषमता है। एक प्रकृति, एक भाव एक रुचि, के सभी व्यक्ति नहीं है। जो व्यक्ति अकारण किसी को कष्ट देता है उसे पीड़ा देना भी धर्म है।

संस्कृत साहित्य में धर्म शब्द का प्रयोग प्रायः सब जगह प्राप्त होता है। मनुस्मृति में सबसे अधिक प्रयोग है। मनुस्मृति में धर्म लक्षण, धर्म परिभाषा दिया गया है। वर्ण धर्म सन्यासी धर्म, सर्वाश्रम धर्म सब कुछ वर्णन, है। धर्माधर्म फल भी है। किन्तु प्रामाणिकता में मनुस्मृतिकार को स्वयं शंका है।

देश धर्म जाति धर्म कुलधर्म कथन करने पर भी कहते हैं कि:—

अर्थ कामेष्वसक्तानां धर्म ज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

[द्वितीय अध्याय
मनुस्मृति]

जो कंचन और कामिनी में आसक्त नहीं होते उन्ही को धर्म का ज्ञान होता है। जिसको धर्म जानने की चाह हो। उसके लिये वेद ही प्रमाण है। इसका निस्कर्ष यह निकला कि जो मनुने कहा है वह अंतिम शब्द नहीं है। धर्म के स्वरूप को देखने के लिये वेदाध्ययन अनिवार्य है। वेदानुकूल शास्त्र ज्ञान आवश्यक है। यदि धर्म को महत्ता को समझ लिया जाय तो विश्व का कोई भी व्यक्ति उसका विरोध न करके धर्म भक्त हो जायेगा। धर्म कल्पवृक्ष है संसार के प्राणी जब तक सुखानुभव नहीं कर सकते जब तक उसके स्वरूप को न समझ लें। धर्म के स्वरूप को परिवर्त्तन कर स्वार्थियों ने संसार को ठगा है ठग रहे हैं। जब धर्म के स्वरूप को बदल दिया तो उसके प्रति लोगों का दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो गया, अनास्था उत्पन्न हुयी उसे, घृणा की दृष्टि से देखने लगे। धर्म को माध्यम बनाकर धूर्तों ने ठगना प्रारम्भ किया। भारत में सैकड़ों उदाहरण मिलेगें। धर्म महान है उसकी महानता का वर्णन नही किया जा सकता इस कारण भारत, धर्म प्राण भारत है। धर्म प्रिय भारत है। सहस्त्रों तीर्थ स्थानों को देखकर ज्ञात किया जा सकता है कि भारतीय जनता का धर्म में कितनी आस्था थी। भारतीय जनता और मूर्ख जनता धर्म के नाम पर सब कुछ न्योछावर करने के

लिये तैयार हो जाती है। धर्म और ईश्वर को काल्पनिक कहने वाले, धर्म को नहीं समझ सके हैं ईश्वर और धर्म मानता नहीं जानना होता है।

जो कुछ तू करता है वही तेरा भाषण है। ले०

चतुर्थ किरण

महर्षि जैमिनी रचित मीमांसा दर्शन का प्रथम सूत्र है—

अथातो धर्म जिज्ञासा ।।१ ।।

अर्थात् अब इसके अनन्तर धर्म जानने की इच्छा होनी चाहिए। इसके पूर्व क्या धर्म नहीं था लोग धर्म का पालन नही करते थे। विचारणीय है। अपने शिष्यों को पढाते रहे होंगें। अध्ययन क्रम और अध्यापन क्रम ही पूर्व रहा होगा। तो क्या पढ़ने वाले छात्र धर्म का पालन नहीं करते थे ? क्या स्वयं जैमिनि गुरू धर्म से पृथक थे ? एक अध्यापक का जो धर्म-कर्त्तव्य होता है उसका पालन नहीं करते थे ? स्पष्ट है कि जैमिनी को जिस धर्म की व्याख्या करना अभीष्ट है। वह कोई विशेष धर्म है। प्रचलित धर्म दूसरा है।

महर्षि जैमिनि जिस धर्म की ओर सकेंत करते हैं वह है यज्ञ, यज्ञीय विज्ञान को जानना। जैमिनि के मत में यज्ञ को धर्म कहा है। यज्ञीय विधानों को धर्म कहते हैं। यज्ञ करना मानवीय धर्म है। किन्तु जिस यज्ञ का विधान जैमिनि ने बताया वह यज्ञ प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता अतः एक वर्गीय धर्म है। सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं। समाज के कुछ व्यक्तियों हीं हो सकता है। धर्म की यह भी परिभाषा संकुचित है:—

चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः ।।२।। (जैमिनि)

विधान में आये भाव को धर्म कहते।

सम्मान्य आचार्यों ने प्रत्येक शुभ कर्म को यज्ञ स्वीकार किया है। यज्ञ का अर्थ शुभ कर्म ही है। जिससे अपना, समाज का, राष्ट्र का हित हो, जो मानव समाज के लिये कल्याणकारी हो जो मानव समाज के लिये कल्याणकारी हो वह शुभ कर्म यज्ञ ही है। बड़े बड़े यज्ञों का विधान भी समाज के कल्याणार्थ ही किया जाता है। यज्ञ बहुत प्रकार के हैं। कुछ यज्ञ ऐसे हैं जिनको कुछ कामना लेकर किया जाता है वांछित फल प्राप्ति के लिये किया जाता है। जो यज्ञ कामना लेकर करवाया जाता है वह सामूहिक न होकर वैयक्तिक होता है। यज्ञ शब्द का अर्थ देव पूजा, संगति करण और दान। देव पूजा शब्द का अर्थ है विद्वानो का पिता, माता, गुरुजनो का सत्कार करना। उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करना, अनुशासन में रहना यज्ञ है। संगतिकरण का भाव है संगठन, समाज संचालन और निर्माण के लिये संगठन अत्यन्त आवश्यक है। बिना संगठन एवं एकता के कोई कार्य महान नहीं हो पायेगा। बहुत से कार्य ऐसे हैं कि मनुष्य अकेला नही कर सकता है।

दान:-दान का अर्थ है देना। ईश्वर सबसे बड़ा दानी है उसने हमारे लिये सम्पूर्ण विश्व वैभव प्रदान कर दिया, मनुष्य के लाभार्थ कितनी वस्तुएं विश्व में उपलब्ध है! उसका दान असीमित है। मनुष्य कितना दान करता है? दान से भोग के आनन्द की प्राप्ति होती है जब वह दान करता है तो उसके हृदय में एक प्रकार से जो प्रसन्नता की प्राप्ति होती है वह सात्विक आनन्द है भोग है। परमात्मा महान याज्ञिक है। यह संसार ही यज्ञ है ससार को संसार क्यों कहते हैं? 'सरति' इति संसारः। इसमें सृति है। एक स्थल पर महाभारत में आया है युधिष्ठिर से यक्ष ने पूछा, संसार क्या है? उत्तर मिला यह कड़ाही है। यह भौतिक अग्नि द्वारा तपाया

जा रहा है : इसमें धन धान्य आदि वस्तुएं पकते हैं। जो काल के गाल में ग्रास बन कर जाता है संसार का वास्तविक स्वरूप यही है इसमें अग्नि है कोई निवृत्त हो या प्रवत्त इस कड़ाही में तपेगा, जो कर्म-कड़छुल लेकर कड़ाही को चलायेगा वह जलने से बच जायेगा जो व्यक्ति कर्म शून्य रहेगा वह भोज्य वस्तु की भांति कड़ाही में बलात् धकेला जायेगा काम आओ या काम करो। यह संसार का नारा है। पको या पकाओ। यह संसार यज्ञ है एक सूक्त में कहा गया है—

ओ३म् यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञ मतन्वत वसन्तो
अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मशरद्धविः ।

अर्थात् देवता जिस पुरुष के साथ मिलकर हवि से यज्ञ करते हैं उसका ऋतु घृत है। ग्रीष्म लकड़ी शरद ऋतु हवि है अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में ग्रीष्म वर्षा शरद आदि भिन्न भिन्न ऋतु एक दूसरे के सहायक होकर संसार रूपी यज्ञ कर रहे अर्थात उत्तम अनाज आदि सस्य सम्पत्ति तथा फल फूल आदि द्वारा इस धरती को बसा रहे हैं। यदि इस संसार में केवल ग्रीष्म ऋतु ही होती है तो यह संसार झुलस जाता यदि केवल शरद ऋतु होती तो सब कुछ दबा का दबा रहता ग्रीष्म से संसार की सफाई होती है और सड़ांद का नाश होता है। सम्पूर्ण दोष भस्मीभूत होते हैं और फिर से चारो ओर हरियाली छा जाती है बीज में अंकुर अंकुर से पल्लव, पल्लव से शाखा, शाखा से फल और चारो ओर वृद्धि ही वृद्धि दिखाई देती है इस प्रकार यह संसार ही यज्ञ है।

विश्व यज्ञ है। इसके अणु अणु में गति है। इसमें कर्मशीलता

है। तो मनुष्य जिसका तन इसके परमाणु से निर्मित हुआ है वह बिना कर्म के नहीं रह सकता। सिद्धान्त है करेगा अवश्य चाहे शुभ चाहे अशुभ। बैठ सकता नहीं अतः प्राणियों को अपना जीवन यज्ञमय बनाना चाहिये।

यज्ञ मानव जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक अंग है। धर्म है। हमारे पूर्वज वैदिक धर्मानुयायी पंच महा यज्ञ किया करते थे। १ ब्रह्म यज्ञ संध्या, २ देव यज्ञ, ३ भूत यज्ञ ४ पितृ यज्ञ, ५ नृ यज्ञ या अतिथि यज्ञ ये नित्य कर्म माने गाये हैं। धर्मांङ्ग हैं।

मनुष्य का गिरना सरल है किन्तु उठना कठिन।

—लेखक

पंचम किरण

वैदिक संस्कृति में मातृ-पितृ गुरु, वन्दनीय और पूजनीय पुरुषों की पूजा शुश्रूषा करना भी सर्व मान्य धर्मों में से एक प्रधान धर्म माना गया है। यदि ऐसा न हो तो समाज, कुटुम्ब और शिक्षालयों की ठीक ठीक व्यवस्था न हो सकेगी, यही कारण है कि केवल स्मृति ग्रन्थों में ही नहीं अपितु उपनिषदों में भी 'सत्यं-वद' धर्म चर की शिक्षा देने के पश्चात गृह जाते हुये स्नातकों को गुरु शिक्षा देता था कि 'मातृ देवो भव' पितृ देवो भव' 'आचार्य देवो भव'।

मनु महाराज जी कहते हैं:-

उपाध्यान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्त्रं तु पितृन्माता गौरवेणाति रिच्यते ॥

[मनुस्मृति २।१४५।]

दश उपाध्यायों से आचार्य और सौ आचार्यों से पिता एवं हजार पिताओं से माता का गौरव अधिक है। ऐसा क्यों होता है? माता शब्द का अर्थ है '**माता निर्माता भवति**' वास्तव में बालक का निर्माण करने वाली ही तो होती है। वैदिक रीति से किये जाने वाले संस्कारों में माता का महत्व अधिक प्रतिपादित है। पुंसवन संस्कार के समय माता को सम्बोधन करके कहा जाता है—"**आ वीरो जायताम् पुत्रस्ते दशमास्य:**"

अर्थात् दश मास तेरी कोख में रहकर तेरा वीर पुत्र उत्पन्न हो जीवन के प्रारम्भ से ही माता अपने प्रबल शशक्त विचारों से अपनी वेगवती संस्कारों की धारा में स्वपुत्र को जीवन की दिशा देने लगती थी। पुंसवन संस्कार बालक के भौतिक शरीर के निर्माण के समय का संस्कार है सीमन्तोन्नयन संस्कार (जिसमें गर्भिणी स्त्री का मन सन्तुष्ट. अरोग्य, गर्भस्थिर और उत्कृष्ट होवे और प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो) गर्भ के समय वालक के मस्तिष्कि या मानसिक शरीर का निर्माण प्रारम्भ होना था। माता के वाल संवारे जाते थे. उसे अपने सिर का, मस्तिष्क का विशेष ध्यान रखने को कहा जाता था माता के सामने कटोरा में घृत रखकर पूछा जाता था, पिता पूछता था कि "किं पश्यति" क्या देखती हो इस कटोरे में. ? माता कहती थी. 'प्रजा पश्यामि' मैं इसमें स्वपुत्र को देखती हूँ। दिन रात माता अपनी संतान के निर्माण में लीन रहती है। माता के गर्भ में बने बालक का परिवर्तन संभव नहीं।

अमेरिका के प्रेसीडेन्ट गार फील्ड का घातक गीटू जब पेट में था तब उसकी माता गर्भपात की औषधियां खाकर उसे गिराना चाहती थी, वह न गिरा परन्तु माता के संस्कारों ने उसे हत्यारा बना दिया। प्रिंस विस्मार्क जिस माता के गर्भ में था वह अपने घर के द्वार पर लगे हुये नेपोलियन की सेना के तलवारों के चिन्हों को जब देखा करती थी तब उसके हृदय में फ्रांस से बदला लेने की इच्छा ने विस्मार्क को उत्पन्न किया। शिवा जी के निर्माण में उनकी माता का ही हाथ था। जब महात्मा गांधी पेट में थे तो उनकी माता ने दो चान्द्रायण व्रत लिया था। अभिमन्यु ने गर्भ में ही चक्रव्यूह भेदने

को कला सीखी थी। इन सब बातों के अतिरिक्त इस जन्म में माता के किए हुये उपकारों का मनुष्य कुछ भी बदला चुका नहीं सकता, किन्तु उनकी पूजा उनकी आवश्यकता की पूर्ति सेवा द्वारा कर सकता है। यही पितरों की पूजा है।

पिता के उपकार मनुष्य पर कम नहीं होते। पुत्र के बाह्य जीवन और निर्माण का उत्तरदायी तो पिता ही होता है। उसके जीवन का निर्माण पिता के ऊपर निर्भर है। यह सब जानते हैं पिता की आज्ञा पालन के लिये राम जंगल को गये। यह राम की पितृ सेवा 'पितर यज्ञ' का ही रूप है। आज के प्रत्येक गृह में जो माता पिता की दुर्दशा देखने में आती है वह हमारी कृतघ्नता की ही सूचक है। ज्ञान देने वाला आचार्य या गुरु होता है गुरु भक्ति ज्ञान भक्ति है।

पूर्वजों के सदनुभव के प्रति आदर, उनके प्रयत्नों के प्रति आदर, उनके प्रति साहस्य, उनकी ज्ञान निष्टा के लिये आदर गुरु की पूजा मानो सत्य की पूजा, ज्ञान की पूजा अनुभव की पूजा, विचारों की पूजा है। जब तक मनुष्यों में ज्ञान की पिपासा है, ज्ञान के लिये आदर की भावना है तब तक विश्व में गुरु भक्ति रहेगी। भारत में सदगुरु के महत्व का बड़ा प्रतिपादन किया गया है। गुरु हमें जीवन की कला सिखाता है। गुरु हृदय में प्रकाश करते हैं। बुद्धिमान करते हैं। माता पिता शरीर देते हैं लेकिन मिट्टी के शरीर को सोना बनाने की शिक्षा गुरु देता है। गुरु पशु से मनुष्य बनाता है। वैचारिक बल प्रदान करता है। सदगुरु का ऋण चुकाना सम्भव नहीं।

तत्व दर्शियों ने भगवद् भक्ति को धर्म का प्रमुख अंग स्वीकार किया है। ईश्वर पूजन के लिये विविध विधान हैं। लोग अपनी श्रद्धानुसार उसकी उसी प्रकार से आराधना करते हैं। ईश्वर के प्रति सच्चा प्रेम, धर्म की आत्मा है और अर्चना विधि धर्म का वाह्य शरीर। द्वैताद्वैत, त्रैत्व, विशिष्टाद्वैत, वाद निराकार साकारादि तर्काश्रित है। वैज्ञानिक सत्य एक ही है जो अतीन्द्रिय है कल्पनातीत है। तर्क मेरा अन्तिम उपदेशक है। श्रद्धा उपदेशक के निकट आसन देती है। उपदेशक का उपदेश है कि प्रकृति नटी का नृत्य विश्वात्मा पर आधारित है। प्रकृति स्वयं निष्क्रिय है। सक्रियता अद्वय सत्ता का दर्शन कराती है। विश्व प्रपंच कार्य ब्रह्म है, कार्य ब्रह्म को देख कर हम कारण ब्रम्ह को खोजते हैं। मैं कौन हूं? कैसे हूं? मेरे होने का क्या उद्देश्य है? कहाँ जाऊंगा? ये सब प्रश्न धर्म को उत्पन्न करते हैं और धर्माश्रित हैं। धर्म की कल्पना निराधार नहीं है साधार है। धर्म उपेक्षणीय नहीं अपेक्षित है। धर्म हीन व्यक्ति निरालम्ब है। पथ विहीन है। विचार करने पर समझ में आता है कि धर्म की परिभाषा क्या होनी चाहिये? धर्म का स्वरुप कैसा हो? धर्म को आवश्यक समझ कर प्रत्येक व्यक्ति धर्म का रूप जैसा समझता है ग्रहण कर उसी प्रकार आचरण करता है। धर्म कार्य प्रत्येक व्यक्ति का पृथक २ है। भारत में धर्म के जितने रूप दृष्टि गोचर होते हैं वर्णन किया जाय तो एक महत ग्रन्थ तैयार हो जाय।

संक्षेप में:—

कथा, कीर्तन, तीर्थाटन, तप, जप, विविध, ईश पूजन योग दान आज्ञा पालन, गुरुभक्ति, मंदिर निर्माण, गो शाला धर्मशाला निर्माण व्रत, यज्ञ, पञ्च महायज्ञ, राज धर्म, देश धर्म विश्व धर्म, नारी धर्म

पुरुष धर्म, शिष्य धर्म, गुरु धर्म, मातृ पितृ धर्म समाज धर्म, भ्रातृ धर्म, नेतृ धर्म. इत्यादि ।

सब प्रकार के कर्तव्यों का मूल उद्देश्य सुख और शान्ति प्राप्त करना है। सांख्य दर्शन का कथन है कि संसार में कोई भी प्राणी सुखी नहीं है:—

कुत्रापि कोऽपि सुखो न । ६ । ७॥

यदि मनुष्य सुख वाला होता तो सुख की खोज ही न करता, आनन्द की खोज यह बताता है कि मनुष्य सुख से बहुत दूर है। सुख और शान्ति प्राप्त करने के लिये हमारे महर्षियों ने धर्म का अन्वेषण किया था, महर्षि महान वैज्ञानिक थे। वैज्ञानिकों ने जितना अब तक अन्वेषण किया है और भविष्य में अन्वेषण करेंगे। उन खोजों में से धर्मान्वेषण को उच्चतम स्थान प्राप्त है। भौतिक विज्ञान में ऐन्द्रिक सुख के लिये जहां अगणित साधन प्रदान किये, वहां मनुष्य समाज को विनाश के कगार पर खड़ा कर दिया है। मानव और मानवता के मध्य एक दीवार निर्मित कर दिया। भौतिक उन्नति यदि चरम सीमा परपहुंच जाय या सीमांत रेखा पार कर जाय तवभी कोई मानव,मानव समाज और राष्ट्र सुखी नहीं हो जायगा . जिस अमेरिकाने इतनी भौतिक उन्नति करली है फिर वहां के लोग अपनी आत्म हत्या क्यों करते हैं? वास्तव में एवं सामान्य भाषामें सुख एक मानसिक स्थिरता का स्वरुप है। मखमली गद्दों पर सोने वाला, राज्य महलोंमें रहने वाला प्रचुर धन संग्रह करने वाला, वातानुकूल स्थल में निवास करने वाला स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों का सेवन करने वाला भी जब अपने किसी स्नेही के आकस्मिक निधन से अवगत होता है तत्क्षण उसके आंखों से अश्रु धारा बह चलती

है वह विह्वल हो जाता है उसका सम्पूर्ण वैभव उसे शान्ति प्रदान करने में असमर्थ होता है। एक योगी मानसिक स्थिरता के कारण परम सुखी हो सकता है किन्तु राजा नहीं।

"धर्म उन कल्याणकारी कार्यों का नाम है जिसके द्वारा प्राणियों को सुख प्राप्त होता है"

समस्त धार्मिक अनुष्ठानान्तर्गत यही सार तत्व निहित है। अब प्रश्न उठता है कि सुख की प्राप्ति धर्म का फल है तो कैसा सुख? सुख किसे कहते हैं? उपलब्ध सुख का भोक्ता कौन है, आत्मा या शरीर? इन्द्रिय जन्य जो हमें सुख प्राप्त है स्थायी नहीं है। संगीत का आनन्द लेते हैं किन्तु किसी कारणवश जब मन उद्विग्न रहता है संगीत नहीं सुनते। निद्रा सुख प्राप्त करते है किन्तु सदैव प्राप्तावस्था में नहीं रह सकते षट रस भोज्य पदार्थ का आनन्द लेते हैं किन्तु तृप्त होने के बाद वह अच्छा नहीं लगता। भोग में रोग का भय है समाप्ति का दुख मिश्रित है। वह सुख का सत्य स्वरूप नहीं है। संसार में मनुष्य रागी बनकर रहता है। राग कभी समाप्त नहीं होता है। सांख्याचार्य का कथन है:-

न भोगाद् राग शान्तिर्मुनिवत् (साख्य दर्शन ४।२६)

भोग से राग कदापि शान्ति नहीं होती-मुनिवत्-जैसे सौभरि मुनि की भोग से राग शान्ति न हुयी।

और भी-

न जातु कामः कामानामुप भोगेन शाम्यति, हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एवाभि वर्धते ॥ (मनु २।९४)

कामना कभी कामनाओं के उपभोग से शान्त नहीं होती किन्तु हवि से अग्नि की तुल्य बढती चली जाती हैं। मृत्यु पर्यन्त मनोरथों का अन्त नहीं। किस प्रकार राग शान्ति हो? यह उपाय खोजने के पहले हम यह जान लें कि विराग की आवश्यकता क्यों है? क्योंकि राग में सुख ही सुख मिलता नहीं और जो सुख मिलता है वह, दुख, भय, रोगादि से मिश्रित है। जीवन दर्शन का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसे जीवन में सुख का ही वहार रहा हो कभी कोई चिन्ता या दुख न हुआ हो ऐसी स्थिति में साख्याचार्य निर्देश देते हैं कि–

दोष दर्शनादुभयो: (सांख्य शास्त्र ४। २८)

भोक्तापन में और भोग पदार्थ में दोष खोजो दोष दर्शन से। मरण भय, वियोग दुख, दैहिक, भौतिक, दैविक दुखादि इन दोषों के देखने से राग शान्त होती है। दोष भावना से राग निवृत्त हो जाता है। जो रागी अत्यन्त रागवान होता है रज और तम ने जिसे उन्मत्त वना दिया है। उसकी विवेक शक्ति नष्ट हो जाती है। वह पुनः पुनः विश्व प्रपंच में भटकता रहता है। अथर्वेद में आज्ञा है कि हे मानव तू रजस् और तमस् मार्गों की ओर न जा तू इस प्रकार मृत्यु को न प्राप्त हो।

रजस्तमो मोप गा: मा प्रमेष्ठा: ॥

अथर्ववेद ८।२।१

भगवान बुद्ध पर इसका प्रभाव न पड़ा, रज तम का संस्कार उनके विवेक शक्ति को नष्ट न कर पायी, ऐसे अनेकों दृष्टांत दिये जा सकते हैं। विवेक की शक्ति हमें शास्त्रों में अध्ययन से धर्म ग्रन्थों के अध्ययन प्राप्त होती है अतः अध्ययन भी धर्म

का अंग है। इस लिये हमारे आचार्यों ने निर्देश दिया है कि—

स्वाध्यायान्मा प्रमदः

शास्त्राध्ययन में आलस्य न कर। संसार में रागी बन कर रहे किन्तु राग के सम्बन्ध में ज्ञान रक्खे। कर्मशीलता जीवन में हो किन्तु संसारासक्ति न हो। संसाराक्ति यदि हो भी तब भी तो संसार छूट जाता है। धर्म इस समस्या को हल कर देता है। संसार में रहकर कर्मशील बन कर जीवन व्यतीत करने का मार्ग धर्म देता है। आश्रम धर्म इसी कारण बना था। यदि भौतिक विज्ञान चरम सीमा पर पहुंच जायगा, और मानव को सभी ऐन्द्रिक सुख प्रदान कर देगा। ऐसी स्थिति में जब मनुष्य को मानसिक दुख होगा तब वह क्या करेगा? मानसिक दुख को दूर करने के लिये जो मार्ग खोजेगा, वही धर्म का स्वरूप होगा और होता है। महर्षि गण इन सूक्ष्म विज्ञान को जानते थे। सहस्त्रों प्रयोगों के पश्चात धर्मान्वेषण हुआ था।

जो धर्म मानव समाज को सुख शान्ति नहीं प्रदान कर सकता वह धर्म नहीं है। इसी लिये कहते हैं कि यदि राज्य की व्यवस्था सम्राट करता है तो शान्ति की व्यवस्था परिव्राट करता है। विश्व की अव्यवस्था, नरसंहार, युद्ध, विनाशकारी लीला, अनैतिकता, छल कपट, चोरी, डकैती आदि जो हो रहा है. दलीय होड़। शासन करने की लत, इत्यादि यह मानवेन्द्रिय सुख का मैं विरोधी नहीं हूं किन्तु इतना सतर्क रहना तो आवश्यक है वह मेरा अस्तित्व ही न खो दे। अतः इन्द्रिय वाद प्रज्ञा से नियंत्रित हो।

मानवेन्द्रिय सुख के लिये धन प्रप्त्यर्थ मानव अनैतिकता का आश्रय लेता है किन्तु न उस धन को खाता न पहिनता है। बल्कि उससे जीवन की आवश्यकताओं की वस्तु क्रय करता है। और कभी कभी दुर्पयोग के कारण वह धन ही धन संग्रही को खा लेता है।

१ धर्म सिखाता है धन का सदुपयोग
२. धर्म सिखाता है जीवन का उपयोग
३. धर्म सिखाती है नैतिकता
४ धर्म सिखाता हैं ज्ञान प्राप्त करो
५ धर्म सिखाता है कि जीवन को महान बनाओ।
६ धर्म सिखाता है मनुष्य, समाज, राष्ट्रोन्नति।
७. धर्म सिखाता है निजी स्तर पर प्रत्येक का क्या कर्तव्य है।
८ कर्तव्यों का विधान धर्म बताता है।

समाज विभिन्न वर्गों का समुदाय है। अध्यापक, वकील, इन्जीनियर, न्यायाधीश, शासक, नेता, चिकित्सक, व्यापारी, कृषक श्रमी यदि अपने धर्मों का पालन करें। तो समाज को एकांगी और संकुचित अर्थ में लेते हैं वे धर्म को नहीं जानते हैं। धर्म किसी व्यक्ति विशेष की निजी सम्पति नहीं है। धर्म का निर्देश है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म का पालन करें। निष्कपट हृदय से भावना करे कि विश्व का कल्याण हो, सब प्राणी सुखी हों, सब निरोग रहें। इस प्रकार की भावना करने से मनुष्य में देवत्व जागृत होता है। मनुष्य का मूल्यांकन जाति से नहीं उसके कर्म और चरित्र से होता है।

षष्ठ किरण

अब तक धर्म के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है। उनका अपना अस्तित्व है, महत्व है। किन्तु धर्म की परिभाषा तत्व चिन्तक महर्षि कणाद ने विश्व मानव के समक्ष जो रक्खा वह अद्वितीय है। ऐसी उत्तम, यथार्थ परिभाषा विश्व के साहित्य में दूसरी नहीं है। सभी परिभाषायें इस परिभाषा के अन्तर्गत आ जाती हैं। भिन्न भिन्न धर्म स्वरूप की शाखायें इसी है निकली है—

महर्षि का कथन है कि:-

यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः

वैशेषिक दर्शन १।२।

जिससे मानव समाज की राष्ट्र की विश्व की उन्नति हो एवं निः श्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है।

निः श्रेयस का अर्थ विद्वानों ने भिन्न भिन्न की है।

मोक्ष, कल्याण, मंगल विद्या, विज्ञान, शिव भक्ति इत्यादि। दर्शनकार ने किस भाव से द्योतन किया यह वही जानते थे किन्तु इतना तो स्पष्ट है। चाहे जिस अर्थ को स्वीकार किया जाय पर धर्म की महानता, उपयोगिता, आवश्यकता अभिव्यक्ति है। धर्म सूक्ष्म आत्मा इसी सूत्र में व्यापित है। जो कहते हैं धर्म की आवश्यकता नहीं वे धर्म के सूक्ष्म तत्व को नहीं जानते हैं। धर्म विश्व का प्राण है धर्म के बिना कोई भी व्यक्ति समाज, राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता।

धर्म शाश्वत नियमों तथा कर्तव्य कर्मों का समुदाय है। जिससे मनुष्य की उन्नति होती है। मनुष्य सुखी होता है।

धर्म त्रिकाल में नष्ट नहीं होता, न स्वीकार करने वालों का ही विनाश होता है। धर्म अमर है। कोई व्यक्ति धर्म को नहीं ग्रहण करेगा तो तज्जनित लाभ से वंचित रहेगा, धर्म स्वतः अचल अविनाशी है। धर्म का कुछ बिगड़ता नहीं। जब हम कहते हैं कि धर्म अमुक व्यक्ति या समाज का नष्ट हो गया तो हम भूल करते हैं। इसका अर्थ होता है कि अमुक व्यक्ति या समाज ने नियमों को ग्रहण कर लाभ नहीं उठाया प्रत्युत तज्जनित लाभ से वंचित रह गया। धर्म कभी नष्ट होता ही नहीं। उन्नति के लिये प्रत्येक शुभ कर्म धर्म है। धर्म असीम है कोई भी वैज्ञानिक तथ्य यदि मानव समाज के हित में है तो वह धर्म ही है. धर्म कर्म की सोमान्त रेखा नहीं खीची जा सकती हमें चाहिये कि भूतकाल में जो धर्म का स्वरूप था, वही है यह समझें तो हम धर्म को सीमित करके उसके वास्तविक रूप को परिवर्तन करते हैं।

एक दूर दर्शी धर्म तत्वविद् का कहना है कि धर्म ऐसे नियमों का स्वरूप है जिसका ससार में एक भी व्यक्ति विरोधी न हो, और उसमें विरोधात्मक तथ्य न उत्पन्न हो वह हमारा धर्म है। जैसे प्रश्न हुआ कि शाकाहार धर्म है कि मांसाहार? मेरा स्वाभाविक भोजन क्या है? सृष्टि सृजक ने प्रत्येक प्राणी का भोजन निश्चित कर दिया है हम अनुभव करते हैं कि अन्नाहार से मनुष्य जीवित रहता है किन्तु केवल मांस खाकर मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। शाकाहार के सहारे मांसाकार किया जाता है।

यदि कोई व्यक्ति केवल अण्डा खाता रहे या मछली खाता रहे अन्याहार बन्द कर दें तो क्या परिणाम होगा ? उसके शरीर में ऐसा बिगड़ाव पैदा होगा कि वह मर जायगा कोई भी अनुभव करके देख सकता है। अतः सिद्ध हुआ कि मांसाहार से हम जीवित नहीं रहते और अन्नाहार से अपने शरीर को सुरक्षित रख सकते हैं। शाकाहार हमारा स्वाभाविक भोजन है ? मांस कृतिम टुंड्रा के निवासी भी मछली के साथ घास की काइयां खाते हैं। माँस मृत्यु कारक होने से, विरोधी भोजन है। संसार का मानव समुदाय मांस भोजन का विरोध करता है किन्तु संसार का कोई भी व्यक्ति अन्नाहार या शाकाहार का विरोध नहीं करता है अतः सिद्ध हुआ कि शाकाहार मनुष्य का धर्म है। विश्व मानव समाज पर इस नियम को लागू किया जा सकता है।

गर्भ में जब बालक रहता है, उसकी व्यवस्था ईश्वरीय नियम से होता है। उत्पन्न होने के अनन्तर दुग्ध का प्रबन्ध भी ईश्वरीय नियम द्वारा ही होता है। अतः सिद्ध है कि दुग्धाहार भी भोजन है। किसी विशेष परिस्थिति को छोड़ कर। धर्म तत्व की व्याख्या करते हुये प्रसंग वस दर्शनकार कणाद कहते हैं कि-

तद् दुष्ट भोजने न विद्यते ॥

(वैशेषिक शास्त्र)

यदि दुष्ट भोजन का दान करे और प्रतिग्रह लेने वाला दुष्ट अन्न का भोजन करे तो दोनों को उत्तम फल नहीं होगा।

दुष्ट भोजन किसे कहते हैं ?

दर्शनकार उत्तर देते हैं !

दुष्टं हिंसायाम्।

किसी प्राणी को दुख देकर या मारकर जो भोजन सिद्ध किया जावे या भोजन दिया जावे वे दोनों भोजन दुष्ट हैं चोरी से अन्याय से धन प्राप्त करता है उसे दान करने का कुछ फल नही

तस्य समभिव्याहारतो

उस दुष्ट भोजन के खाने खिलाने से हिंसा दोष होता है।

संसार के समस्त प्राणी जीवित रहने की कामना करते हैं इस तथ्य का विरोध कोई नहीं कर सकता है। अतः जिन प्राणियों के द्वारा हिंसा का भय है छोड़कर किसी भी जीवधारी का मारना अधर्म होगा। अन्यायी को छोड़ने से यदि हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है तो अन्यायी को मारना ही अहिंसा है। अहिंसा का केवल इतना ही अर्थ नहीं है कि अस्त्र शस्त्र द्वारा किसी जीव की हिंसा यदि समाज में किसी व्यक्ति का कोई मौलिक अधिकार छीनता है तो हिंसा है। केवल अस्त्र शस्त्र से ही नहीं बुद्धि से विचार से भी हिंसा होती है। विश्व में हिंसा विरोधी तत्व है और अहिंसा अविरोधी।

अतः अहिंसा धर्म है।

प्रश्नः- ईश्वर को बहुत से लोग नहीं मानते हैं ईश्वर के मानने में विरोध है अतः ईश्वर मानना अधर्म है क्यों कि आपका कथन है कि धर्म वह है जिसका संसार में कोई विरोध न करे।

उत्तरः- वास्तव में ईश्वर को मानना नहीं! जानना होता है। संसार का कोई मनुष्य ऐसा नहीं है कि वह जानना

नही चाहता नास्तिक जब ईश्वर को नही जान पाता तब नहीं मानता है। जानने की इच्छा में विरोध नहीं है।

अतः ईश्वर को जानना धर्म है।

जो जान जाता है उसका मानना भी धर्म है।

समस्त लोग अपना सम्मान चाहते हैं इस सिद्धांत का विरोध कोई नहीं करेगा।

अतः दूसरे का सम्मान करना धर्म है।

संसार में कोई मनुष्य अस्वस्थ रहना नही चाहता है इस तथ्य का विरोध कोई नही करता अतः स्वस्थ्यदायक नियमों का पालन करना धर्म है। धर्म का व्यापक प्रभाव प्रत्येक क्षेत्र में जितना पड़ेगा उतना अङ्गुल्यानिर्देश से काम नहीं चलता हां धर्म के मूलभूत सिद्धान्त को नही भूलना चाहिये। जो वैशेषिक दर्शनकार ने संकेत किया है। मनीषियों ने जो विश्व कल्याणार्थ वैयक्तिक सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक नियमों को बनाया है उसका उलंघन ही अधर्म है। प्रत्येक कार्य करने के पूर्व यदि व्यक्ति सोच ले कि इस कर्म से किसी व्यक्ति का, किसी समाज का, राष्ट्र का, विश्व का अहित तो नहीं है तो उससे अधर्म नही होगा। किसी भी देश की सांस्कृतिक व्यवस्था ने जिस स्त्री को पत्नी बना दिया उससे प्रेम करना व्यक्ति का धर्म है। किन्तु सामाजिक अथवा साँस्कृतिक अनाधिकार प्रेम पाप की परिभाषा हो जाती है वस्तु स्थिति, के प्रभेद से पाप पुण्य होता है। दृष्टिकोण की विषमता नहीं है। यदि पाप पुण्य में अन्तर नहीं है तो मनुष्य द्वारा किये

गये कार्यों में, किसी में प्रसन्नता और किसी कार्य में, संकोच, लज्जा और भय क्यों होता है ?

सप्तम किरण

मानव समाज को हानि पहुचाने वाले हिंसक जीवों को मारना यद्यपि, धर्म बताया जाता है। किन्तु ऐसे ऐसे रहस्यमय अनुभव प्राप्त होते हैं जिससे ज्ञात होता है कि हिंसक कहलाने वाले जीव भी धर्मात्मा को कष्ट नहीं देते हैं और यदि कष्ट देते हैं तो वह अपराधी अवश्य था।

स्वामी रामतीर्थ ने लिखा है कि मैं हिमालय के जंगलों में घूमता था। हिंसक व्याघ्र से मेरी आंखें मिल गई हैं किन्तु शेरों ने दुम दबा ली है। स्वामी राम तीर्थ की आँखों में क्या प्रभाव था ? वह उनकी पवित्र आत्मा की ज्योति थी। हम अधर्म करके अपनी आंखों में ज्योति नहीं उत्पन्न कर सकते हैं। धर्म की आज्ञा है उठो, जागो, ज्योति को जलाओ, अंधकार में न रहो।

तमसो मा ज्योतिर्गमय

आज का शासन वर्ग, अन्याय, अनाचार, झूठ, छल, कपट असत्यता, विश्वासघात, शोषण, राजनैतिक अस्थिरता, घूस खोरी, भ्रष्टाचार रोकने में क्यों असमर्थ है ? वैचारिक क्रान्ति नहीं लाता है, प्रबन्धकों की संख्या बढ़ाता है। और सोचता है, समीक्षा करता है कमियां कहां हैं क्या भूल हुयी ? उसी प्रकार जैसे कोई

नेत्रहीन व्यक्ति सोचे कि मुझे दिखाई क्यों नहीं पड़ता है ? वह नहीं जानता कि मेरी आंखें ही फूटी हैं।

सामान्य जन यह समझते हैं कि धर्म तो साधु, सन्यासियों, उदासीनों की सम्पत्ति है महती भूल करते हैं। धर्म सब की वस्तु है सर्व सेवनीय है पशु पक्षी भी स्वधर्म का पालन कर सकते हैं धर्म को न ग्रहण करना अपनी ही आत्म हत्या है आत्म घात है। मानव समाज को धर्म तत्व का यथार्थ अर्थ नही बताया गया यह भी कालचक्र की देन है। धर्म तत्व को न समझने के कारण साम्प्रदायिक झगड़े होते हैं। धर्म यदि झगड़े की वस्तु है तो वह धर्म है ही नहीं यह जानना चाहिये। अवस्था भेद, और वर्ग भेद से, प्रत्येक का स्वधर्म पृथक पृथक है। अध्यापक यदि छात्रों को नैतिकता का पाठ पढ़ाकर योग्य नागरिक बनाता है तो वह स्वधर्म का पालन करता है। वकील यदि सच्चाई को निकाल कर अपने मुवक्किल को दण्ड से बचा लेता है तो वह अपने स्वधर्म का पालन करता है, डाक्टर यदि अपनी चिकित्सा रोगी की प्राण रक्षा की दृष्टि से करता है तो वह अपने स्वधर्म का पालन करता है। श्रमी ईमानदारी से श्रम करता है तो वह धर्म का पालन करता है व्यापारी यदि सच्चाई से व्यापार करता है तो वह स्वधर्म का पालन करता है।

धर्म संहिताओं में वर्ण भेद और आश्रम भेद से कर्तव्यों का जो विभाग किया गया था वह समाज को सुव्यस्थित रूप से चलाने के लिये सामाजिक जीवन प्रत्येक व्यक्ति का एक दूसरे पर आधारित है। समाज को एक वर्गीय बनाकर संचालन नहीं किया

जा सकता, प्रत्येक व्यक्ति यदि चाहे कि मैं अपने धर्म (कर्तव्य) का पालन करके जीवित रह लूंगा कदापि सम्भव नहीं, व्यावहारिक जीवन में एक व्यक्ति को कितनी वस्तु की आवश्यकता है ? निश्चित नहीं, एक वर्ग को अन्य सब वर्गों की आवश्यकता है। अतः सब वर्गों के कर्तव्यों का महत्व किसी से कम नहीं है।

कर्तव्यों का अधिकार कृतिम अथवा मौलिक ? वर्णाश्रम दृष्टिकोण से स्मृतिकारों ने प्रत्येक वर्ण का और आश्रम का कर्तव्य निश्चित कर दिया था। समाज का समन्वयात्मक संचालन ही कारण था कुछ लोग वर्णाश्रम धर्म को जन्मजात मानते हैं। द्वितीय पक्ष इसे कृतिम स्वीकार करता है। किसको सत्य स्वीकार किया जाय ? इस विवादात्मक प्रश्न को सिद्ध करने के लिये तीन बातों को समक्ष रखना पड़ेगा।

१. आप्त वचन (आप्तोपदेश शब्दः)
२. वेद शास्त्र इतिहासादि वचनों का प्रमाण
३. अनुभव जन्य प्रमाण

वेद शास्त्रादि का गहन अध्ययन, आप्तवचन, अनुभव एवं तर्क विज्ञान से ज्ञात होता है कि वर्ण प्रभेद मौलिक या जन्मगत नहीं है। प्रारम्भ में समाज का निर्माण हो रहा था तब एक ही वर्ण था जो ब्राह्मण था, ब्राह्मण, शब्द श्रेष्ठता, पवित्रता, महानता का द्योतक है। समस्त प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्य को प्रकृति ने जो मौलिक अधिकार प्रदान किया, सृष्टि में किसी दूसरे प्राणी

को नहीं दिया है। सृष्टि सजन के समय यदि इसे ब्राम्हण कथन किया तो ठीक था।

वृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राम्हण की ११, १२, १३ कण्डिकाओं में वर्णों का उनकी क्रिया की उपयोगिता के आधार पर निर्माण बताया गया है। कि सृष्टि के प्रारम्भिक अवस्था में पहले युग में एक ब्राम्हण वर्ण ही था। वह अकेला व्यावहारिक जीवन व्यतीत न कर सका वह समाज के व्यवहार को सफल न कर सका तव उसने एक उत्तम वर्ण क्षत्रिय का निर्माण किया जब दोनों वर्णों से भी कार्य नहीं चल सका तो वैश्य को बनाया, त्रिवर्ग समुदाय भी जब कार्य नहीं चला सका तो शूद्र वर्ण बनाया।

ब्रम्ह वा इदम ग्र आसीद् मेक मेव तदेकं सन्न
व्यभवत् तच्छ्रे योरुपमत्यसृजत क्षत्रम् ....
.... स नैव व्यभवत् विशमसृजत् ...
स नैव व्यभवत शौद्रम् वर्णम् सृजत् ॥

वर्ण योग्यता से उद्भूत विशेषता, या श्रेष्ठता का द्योतक है। वर्ण नाम इसलिये है कि इसे वरण किया जाता था, चुनाव किया जाता था। स्वीकार किया जाता था। इसका प्रमाण हमको निरुक्त शास्त्र में मिलता है।

वर्णों वृणोते. (नि० २।३।)

ब्राम्हण ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है:—

ब्रम्ह ही ब्रम्हणः क्षत्रः ँ हीन्द्रः क्षत्रं राजन्यः।

………।समाज़ में उत्तम कर्म करने वाला, ब्रम्हस्थ विद्वान, ही ब्राम्हण होता था, परमैश्वय युक्त बल युक्त मनुष्य क्षत्रिय होता है …… ।

यदि भौतिक शरीर मे कोई अन्तर होता तो समस्त चिकित्सा पद्धतियों में पृथक पृथक प्रणाली का उल्लेख होता। भौतिक शरीर में प्रभेद न होने के कारण, सर्व अरोग्यता के नियम में सबके लिये एक विधीय प्रणाली अपनाया गया है। जो चिकित्सा एक वर्ण के लिये है वही सब वर्ण के लिये है। मनुष्य के शरीर में यदि मौलिक प्रभेद होता तो सबका चिकित्सा तंत्र अलग होता महाभारत में लिखा है पहले एक वर्ण था किन्तु कार्य विभाग या भेद से चारों वर्णो की उत्पत्ति हुयी:--

एक वर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्म क्रिया भेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥

इस तथ्य को दूसरे शब्दों में भी व्यक्त किया गया है:--

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्वाङ्गमयः। देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च॥ [भागवत पुराण]

प्रथम एक ही वाङ्मय वेद, ओंकार ही एक जाप नारायण ही एक देव, विज्ञान का मुख्य अंग एक अग्नि और एक ही वर्ण था। एक ही समाज के चारो वर्ण अंग हैं। यदि अग ठीक से कार्य कर रहे हैं तो अंगी (समाज) ठीक है: समाज के चारों अंगों को कार्य अलग अलग सौंपे गये थे: उनकी योग्यता के आधार पर।

ब्राम्हणो ब्राम्हणम् क्षत्राय राजन्यम् मरुद् भयो वैश्यं तपसे शूद्रम् । (यजुर्वेद)

मानव उन्नति के लिए ज्ञान दान के लिये ब्राम्हण, क्षत्र के क्षत्रिय, व्यापार के लिये वैश्य और तप अर्थात् श्रम के लिये शूद्र नियुक्त किया गया। मौलिक रूप से समस्त मानव जाति एक है। इसका प्रमाण हमें न्याय शास्त्र में प्राप्त होता है:—

समान प्रसवात्मिका जातिः

(न्याय शास्त्र)

जिससे समान प्रसवपना पाया जाय वह जाति है ब्राम्हण क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र जाति नही होते है वर्ण होते हैं। जिसका उल्लेख किया जा चुका है। जाति तो सम्पूर्ण मानव समाज की एक है। कर्मो के आधार पर समाज में चार विभाग किये थे। यह जन्म गत नही अपितु कर्म गत था। गुण कर्म प्रकृत्यानुसार। वेद में समाज की कल्पना एक पुरुष एव विराट पुरुष के रूप में मिलती है। यजुर्वेद ३१।१०-११ मन्त्रों में उल्लेख है। यही मन्त्र ऋग्वेद १०.९०।११-१२ में भी है और अथर्ववेद मे भी थोड़ा पाठ भेद से प्राप्त होता है। मन्त्रार्थ अत्यन्त स्पष्ट है किन्तु अपनी मान्यता के अनुसार उसे खींचा तानी करने की चेष्टा करते हैं जिसमें पक्षपात की गन्ध आती है। प्रश्नोत्तर रूप से जैसा है उसी प्रकार उद्धृत है--

प्रश्नः- यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत्किम बाहू किमूरू पादाऽउच्येते १०॥

यत् जो विद्वान ज्ञानी पुरुष, पुरुषम् उस महान पुरुष का, वि अदधु · विशेष रूप से धारण करते हैं। या कथन करते हैं। वे उस [मानव समाज रूप राष्ट्र पुरुष को] कतिधा-किस प्रकार से, वि अकल्पयत्-विभक्त करते या कल्पना करते हैं ?, अस्य मुखन किम्-इसका मुख भाग क्या है ? बाहू किम् -बाहुयें क्या हैं ?, उरू किम्-जाघें क्या हैं ? पादौं उच्येते दोनों पैर क्या कहे जाते हैं ?

उत्तरः- ब्राम्हणोऽस्य मुख मासीद् बाहू राजन्य कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽअजायत ॥

अस्य-इस परमेश्वर की रचित सृष्टि का [में], ब्राम्हणः मुखम् आसीत् ब्राम्हण मुख रूप है। बाहू राजन्यः कृतः -क्षत्रिय शरीर में बाहु के तुल्य हैं। यत् जो। वैश्यः-वैश्य हैं। तत-वह, अस्य ऊरू--इसके जांघ रूप हैं) पद्भ्यो पैरसे शूद्र अजायत-शूद्र को व्यक्ति किया जाता है। उत्पन्न हुये ब्राम्हण मुख से मन्त्रोचारणादि बहुत कार्य करता से अतः मुख रुप है। क्षत्रिय बाहु से अस्त्र शस्त्रादि चलाता है अतः बाहु रूप है। वैश्य जांघों से कार्य सम्पादन करता है अतः जांघ रूप है। शूद्र में मुर्खपन है पैर में मस्तिष्क नही होता, द्विजाज्ञानुसार चलता है अतः पैर की उपमा दिया गया है।

उपर्युक्त मन्त्र का प्रायः ऐसा अर्थ करते हैं किः-

भगवान के मुख से ब्राम्हण, बाहु से क्षत्रिय, ऊरू से वैश्य और पैर से शूद्र उत्पन्न हुआ है वर्ण जन्मात् हैं। किन्तु वेद ने

इसका स्वयं खण्डन कर दिया है। कि उसका साकार रूप नही होता है। न तस्य प्रतिमा अस्ति।

इसके अतिरिक्त कारण रूप से कार्य रूप तदनुसार होना चाहिये। यदि ब्राम्हण मुख से क्षत्रिय बाहु से वैश्य जांघ से शूद्र पैर से उत्पन्न हुआ तो आकार प्रकार में अन्तर होना चाहिये किन्तु सभी मनुष्य एक ही आकृति वाले हैं कोई लम्बा कोई गोलाकार तो नही हैं ?

अर्थ विवेचन

प्रश्नानुसार ही उत्तर होता है। प्रश्न मंत्र में अन्तिम पद उच्येते अथ को स्पष्ट कर देता है। किम् उच्येते ? – क्या कहे जाते हैं ? अर्थात् ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र शब्द औपाधिक है न कि उत्पन्न होते हैं। उत्तर मंत्र में कृतः क्रिया पद है जिसका अर्थ है किये गये, न कि उत्पन्न हुये। पद्भ्यां का अर्थ "पैरों से" ही नहीं होता है। पद का अर्थ पृथिव्यादि तत्व भी होते हैं। भौतिक तत्वों से, अजायत का अर्थ उत्पन्न हुये, गौण हो जाता है। प्रश्नात्मक मंत्र का अन्तिम पद उच्येते है अर्थात कहे जाते हैं। अतः उत्तरात्मक मंत्र के अन्तिम पद अजायत का अर्थ भी कहे जाते हैं। होना ही चाहिये।

प्रश्नोत्तर के सम्बन्ध भी अर्थ को स्पष्ट करते हैं। जैसे किसी ने प्रश्न किया कि क्या सूर्य में अग्नि है ? तो उत्तर देने वाला व्यक्ति सूर्य के गुणों का ध्यान रखकर उत्तर देगा, हां सूर्य में अग्नि है। उत्तर ऐसा तो नही देगा कि पृथ्वी चिपटी या गोल है।

प्रश्न है कतिधा व्यकल्पयन ?
किस प्रकार बनाया ?

उत्तर पद्भ्याम् अजायत
पृथ्व्यादि भौतिक तत्वों बनाया।

जिस देश में वर्ण व्यवस्था नही माना जाता है वहां भी प्रभेद कर्मो के आधार पर जीवित है, फौजी, व्यापारी, श्रमिक और शिक्षक सब जगह हैं। मानव जाति जब एक है तो प्रभेद क्यों ? योग्यता से, योग्यता का अर्थ गुण-कर्म स्वभाव और रुचि से निकलते हैं। एक ही परिवार में अमित संस्कारों को लेकर पृथक पृथक प्रकृति के लोग पैदा होते हैं। एक ही माता पिता द्वारा उत्पन्न चार पुत्रों में एक प्रकृति के चारों नही होते हैं फिर जन्मगत एक वर्गीय सिद्धान्त को कैसे स्वीकार किया जाय ?

हठी लोग जन्म से ही मानते हैं यह तर्क हीन हठवादिता है। यद्यपि यह निश्चित है जिस वर्ण में वह पैदा हुआ है वातावरण के प्रभाव से उसको वह वर्ण बनने का अधिक सुविधा और अवसर प्राप्त है। किन्तु सैद्धांतिक रूप या मौलिक स्वरूप से नही है। जन्म से वर्ण व्यवस्था स्वीकार करने पर बहुत से प्रश्न उपस्थित हो जाते है जिसका समाधान नही होता है—

१- कन्या का गोत्र परिवर्तन विवाह के साथ क्यों हो जाता है ?

२- ब्राम्हण के घर में एक ही माता पिता के रज वीर्य से उत्पन्न पुत्रों में एक मूर्ख और विद्वान क्यों होता है।

३- ब्राम्हण और ब्राम्हणी द्वारा उत्पन्न प्रत्येक पुत्र में ब्रम्ह गुण होना चाहिए।

४- वर्ण शंकरता को स्वीकार करने पर जन्मजात सिद्धांत व्यर्थ हो जाता है।

गुण कर्म स्वाभाव से वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त नवीन भागवत पुराण भी स्वीकार करता है :-

वहां कथन है कि जिस वर्ण के जो लक्षण कहे गये हैं वे गुण यदि दूसरे वर्णों में पाये जांय तो उन्हें वही वर्ण कहा जाना चाहिये।
स्कन्ध ७। अध्याय ११। श्लोक ३५७

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्त पुंसो वर्णाभिव्यंजकम्
यदन्यत्रापि दृश्येत्तत्तेनैव विनिर्दिशेत।

(भागवत)

उक्त भागवत पुराण के श्लोक का अर्थ श्रीधर स्वामी ने भावार्थ दीपिका में वीर राधवाचार्य ने चन्द्र चाद्रिका में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने जो किया है वह निम्न है:-

शमादिभिरेव ब्राम्हणादिः व्यवहारो मुख्यो न जातिमात्रादित्याह यस्येति यदपि अन्यत्र वर्णान्तरेऽपि दृश्यते तद्वर्णान्तरं तेनेव लक्षणेन निमित्ते नैव वर्णेन विनिर्दिशेत। न तज्जाति निमित्ते नेत्यर्थः।

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने लिखा है :-

किञ्च यस्य पुंसो वर्णमभिव्यंजयति यत् तच्च सामान्यतो विहित मेव शमदमादिकं यद्यन्यत्र ज्यात्यन्तरेऽपि दृश्येत् तज्जात्यन्तरमपि तेनैव ब्राम्हणादि शब्देनैव विनिर्दिशेत।

महाभारत शान्ति पर्व में उल्लेख है–
अध्याय २९६ श्लोक १४–१६, पराशर कहते हैं कि:–

हे राजन् मेरे नाना ऋषि कश्यप, वेद, ताण्डव कृष कक्षीवान, कमठ, यवक्रीत, द्रोण, आयु, मातंग द्रुपद, मत्स्य इत्यादि वहुत से ऋषि नीच कुल में उत्पन्न हुये थे किन्तु तप और स्वाध्याय से श्रेष्ठता को प्राप्त हुये। वामन पुराण में वर्णन है कि गृत्समद के पुत्र शुनक और उसके पुत्र शोनक के वंस में कर्मों के भेद से ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र चारो वर्ण उत्पन्न हुये।

पुत्रो गृत्समदस्य च शुनको यस्य शौनकः ब्राम्हणः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च। एतस्य वंशे संभूता बिचित्रा कर्मभिर्द्विजा॥
(वायु पुराण)

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये विष्णु पुराण भी कहता है –

गृत्समदस्य शौनकश्चा तुर्वर्ण्यंप्रवर्त्तयिताऽभूत।

हरिवंस पुराण में भी अध्याय २९ और ३२ अ० में कहा गया है:–

पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकः। ब्राम्हणः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैवच॥

(हरिवंस पुराण)

महाभारत अनुशासन पर्व में अ० २९६। १४ में गुण कर्म से वर्ण व्यवस्था का उत्तम वर्णन है। वहां पर उल्लेख है कि ब्राम्हणत्व के कारण योनि इत्यादि नही अपितु आचरण है। भविष्य पुराण में वर्णन किया गया है कि शूद्र भी यदि ज्ञान

निष्पन्न हो तो वह ब्राम्हण से श्रेष्ट है आचार से पतित भ्रष्ट ब्राम्हण शूद्र से भी नीच है।

शूद्रोऽपि ज्ञान संपन्नो ब्राम्हणाद्धिको भवेत्।
ब्राम्हणो विगताचारः शूद्रात्प्रत्यवरो भवेत्॥
(भविष्य पुराण)

भविष्य पुराण में जन्मगत वर्ण स्वीकार नही किया गया है लिखा है कि गौ और अश्व के तुल्य मनुष्य वर्णों में जाति प्रभेद नही। मात्र कार्य और शक्ति के कारण से कृतिम संकेत मात्र है।

तस्मान्न गोऽश्ववत् कश्चित् जाति वेदोऽस्ति देहिनाम। कार्य शक्ति निमित्तस्तु संकेतः कृतिमो भवेत।

इन प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध है कि वर्ण निर्माण में गुण, कर्म स्वभाव निमित्त है जन्म नहीं। कहा जाता है कि विश्वामित्र आदि तप से ऋषि तो बन गये किन्तु उन्हें ब्राम्हण नही कहा गया यह बात जंचती नहीं है विश्वामित्र को ऋषि, मुनि, ब्राम्हण, ब्रम्हर्षि और विप्रेन्द्र सब कुछ कहा गया हैं। वाल्मीकि रामायण बालकांड १६, ३६ में महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः, ४२ वें श्लोक मैं विश्वामित्रमृपिम् श्लोक ५२ में 'पात्रभूतोऽसि में ब्रह्मन्' ५६ वें मेंब्रम्हर्षित्वमनुप्राप्तः ५५ वें में विप्रेन्द्र ६० वें में परम ऋषिः आदि कहा गया है।

जिस कर्म को करने की जिसमें सामर्थ्य है वह वही कर्म

करने का अधिकारी है। यह वैज्ञानिक सत्य सिद्धान्त है : यजुर्वेद की मैत्रायणी साखा में अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि ब्राम्हण के माता पिता को मत पूछो श्रुत ही प्रमाण है। पिता और पितामह है:—

किमु ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छासि मातरम्
श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः

ऋग्वेद में दृष्टान्त है, और प्रमाण प्राप्त है कि एक ही कुल में भिन्न भिन्न कार्य करने वाले रह सकते हैं। ऋचा इस प्रकार है:-

कारुरहं ततो भिषगुपल प्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि श्रव॥
ऋग्वेद ९।११२।३

अर्थ:-(अहं कारुः) मैं कारीगर हूं। (ततः भिषक्) मेरा पिता वैद्य है। चिकित्सा करने वाला है। (नना) माता (उपल प्रक्षिणी) चक्की पीसने वाली, है। (वसूयवः) धनेच्छा करते हुये। (नानाधियः) विभिन्न ज्ञान एवं कर्म करने वाले (गाः इव) गौवों की तरह (अनु तस्थिम) तेरी आज्ञानुसार कार्य करते हैं (इन्दो) ऐश्वर्यवान् (इन्द्राय) वैभवार्थ (परिश्रव) चारों ओर से सुख की वर्षा कर। गुण कम प्रकृत्यानुसार वर्ण का वरण इससे स्पष्ट और क्या हो सकता है।

प्रिय बन्धु ! स्वार्थ का आवरण अपने हृदय से हटा दीजिये वैज्ञानिक दृष्टिकोण से. विचार कीजिये, पक्षपात का मैल धो दीजिये

व्यर्थ की युक्तियों का आश्रय न लीजिये। आपको अवश्य सत्य के स्वरूप का दर्शन होगा। दर्शन कारो ने जिस प्रकार सत्य तत्व खोजने की चेष्टा की।

यदि ब्राम्हण जन्म से होता तो मनुस्मृति में पुनः ब्राम्हण बनने का विधान क्यों बनाया गया ?

धर्म संहिताकार कहते हैं कि—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राम्हीयं क्रियते तनुः ॥२८॥

वेदाध्ययन, व्रत, होम, त्रैविधि, नाम व्रत, सन्तानोत्पति, महायज्ञ यज्ञ इन सब कर्मों के द्वारा यह शरीर ब्राम्हण का किया जाता है।
अन्यत्र (आपस्तम्ब सूत्र)

धर्म चयया जघन्यो वर्णः पूर्वं २ वर्ण मा पद्यते जाति परि वृत्तो।
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्य जघन्यं वर्णमा पद्यते जाति परिवृत्तो॥

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम २ वर्णों को प्राप्त होता है। और वह उसी वर्ण में गिना जावे जिसमें योग्य हो।

अधर्माचरण से पूर्व उत्तम वर्ण वाला अपने से नीचे वर्णों को प्राप्त होता है। और उसी वर्ण में गिना जावे।

अतः जन्मगत सिद्धांत प्रमाणिक नही है।

गुण कर्म स्वभाव से ही वर्ण व्यवस्था सार्व भौमिक एवं सार्वकालिक है। जन्मना व्यवहारिक नहीं है। यदि जन्मना व्यवहारिक है तो संस्कारों की आवश्यकता क्यों ? और भी. वृहदारण्यकोपनिषद प्रथम अध्याय ब्राम्हण ४ के १५ वें कंडिका में कहा गया है: -

तदेतद् ब्रम्ह क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेपु ब्रम्हाभवद्. ब्राम्हणो मनुष्येपु, क्षत्रियेण क्षत्रिय:, वैश्येन वैश्य:, शूद्रेण शूद्र: ।

अर्थ :—वह यह ब्राम्हण वर्ण ही क्षत्रिय वर्ण, वैश्य वर्ण और शूद्र वर्ण है। वा ब्राम्हण वर्ण अग्नि से ही—यज्ञ कर्म तथा ध्यान से ही देवों में ब्रम्ह हुआ—ब्रम्ह कहलाया। वह मनुष्यों में ब्राम्हण क्षत्रिय कर्म से क्षत्रिय, वैश्य कर्म से वैश्य और सेवा से शूद्र हो गया। स्पष्ट है कि एक ही ब्रम्ह समाज के चार विभाग, चार वर्ण बनाये गये। शूद्र शब्द घृणावाचक नहीं है शूद्र शब्द का अर्थ है- 'शुचं शोकं द्रवति यस्मात वा येन' जिससे अथवा जिस श्रमी, कुशल कर्मी द्वारा चिन्ता बह कर निकल जाय वह शूद्र है। तथा जो 'शुचं शोकं द्रावयति' कर्म कुशल अपने कौशल से दूसरे जन की चिन्ता बहा निकालता है वह शूद्र है । ब्राम्हणों में से विभक्त विभाग रूप शूद्र वर्ण का यही सरल तथा सच्चा अर्थ है। अन्यत्र शूद्र को पूषण भी कहा जाता है क्योंकि यह अपने कर्मों द्वारा पोषण करने वाला है।

अष्टम किरण

मानव को उन्नति के शिखर पर पहुंचाने वाला शान्ति और सुख प्रदान करने वाला कर्तव्य ही धर्म है। जो लोग धर्म को ढोंग और अव्यावहारिक बताते हैं वे धर्म को जानते नहीं. धर्म का बाह्य स्वरूप जो हमें विविध रूप से दृष्टिगोचर होता है वह उसका वास्तविक स्वरूप नही है। यही कारण है कि लोगों का धर्म के प्रति अनास्था उत्पन्न हुयी। धर्म को माध्यम बनाकर उसका स्वरुप बदल कर लोगों ने संसार को धोका दिया और दे रहे हैं। सर्व व्यापी ईश्वर को एक स्थानीय, एक वर्गीय, एक देशीय बताकर ईश्वर पूजन के लिये अधिकार अनाधिकार का विवाद मूर्खता है।

विश्व के सम्पूर्ण मानव समाज का इकाई प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति प्रदत्त प्रक्रियायें समान हैं, प्रत्येक मुख से भोजन करता है. नाक से सांस लेता है, पैर से चलता है। आंखों से देखता है। कानों से सुनता है। मौलिक क्रियायें समान है तो धर्म का स्वरूप प्रत्येक का पृथक पृथक क्यों? यह केवल समाज संचालक का व्यवहारिक जीवन को सफल बनाने के लिये कृतिम विधान है। जो आवश्यक हो सकता है। किन्तु सिद्धान्ततः मौलिक नहीं। कृतिम रेधानिक कर्तव्यों का महत्व किसी से कम नहीं एक दूसरे के पूरक है। अतः हमें श्रम और कार्य भेद की दृष्टि से समाज में किसी को छोटा बड़ा नही समझना चाहिये प्रत्युत सबका सत्कार करना चाहिये। हां यथायोग्य सत्कार हो।

जीवन में जो असफलतायें प्राप्त होती हैं उनका कारण अवश्य

होता है. कारणों पर विचार करना चाहिये निराश नही होना चाहिये। निराश मृत्यु है। प्रयत्नशील होना हमारा कर्तव्य है। जब हम धर्म तत्व को जान लेते हैं तब हमारा कर्तव्य निर्धारित हो जाता है। किन्तु कर्मों की सूची नही बनायी जा सकती है। वे हमारे समस्त वर्तमान और भविष्य में किये जाने वाले कर्तव्य धर्म होंगे जिसकी रूपरेखा अभी नही बनाई गयी है और वे व्यक्ति समाज, राष्ट्र एवं विश्व के लिये कल्याणकारी है। वर्तमान काल में धर्म का रूप जो मनुष्य देखरहा है, भूतकाल में जो देखा, और भविष्य में जो देखेगा। केवल वैसा हीं नही है। किन्तु दुःख तो इस बात की है धर्म का स्वरुप जैसा देखा गया और उससे मानव समाज की उन्नति बताई गई. उसीपर हम विचार करने पर असमर्थ हो गये। वैज्ञानिक चमत्कार के चकाचौंध में मेरी आंखें दुर्वल हो गयी, हमने विवेक वल खो दिया। जितने अनुभवों को हमारे पूर्वजो ने दिया हम उसी से लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। स्मरण रक्खें धर्म एक कल्याण कारी मार्ग है यदि कल्याणकारी नही तो वह धर्म हो ही नही सकता। इसी लिये कहा गया है जहां धर्म है वहीं विजय है।

इस भौतिक शरीर में मन एक अदभुत शक्तिहै। जो ईश्वरीय प्रदत्त है, और महान है। प्रयोगानुसार मनुष्य विनाश और विकाश दोनों करता है। कल्प वृत्त की भांति सब कुछ देने वाला है। आवश्यकता है सावधान होकर इसे सुदिशा देने की इसकी गति को मोड़कर जब सन्मार्ग की ओर कर देते हैं तो हम ऊपर ही चढ़ते जाते हैं।

वेद में कहा गया है कि :—

गोहेम शरदः शतम्

(अथर्ववेद)

हम सौ वर्ष तक चढ़ते रहे अर्थात् उन्नति करते रहे। जब तक मानव समाज का दृष्टिकोण धर्म पर केन्द्रित न होगा तब तक विश्व का कल्याण नही होगा। और न सुख और न शान्ति की प्राप्त हो सकेगी। अनैतिक और धर्म विहीन व्यक्ति मानवता का शत्रु है। विश्व शान्ति का विरोधी है। मानसिक स्थिरता एवं प्रसन्नता ही सुख है, सुख एक मानसिक स्थिति है। आज का मानव उद्विग्न चित है। यह उद्विग्नता दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। अस्थायी सुख के लिये मानव धन की पूजा करता है धर्म की नहीं किन्तु धर्म ही धन को देता है। अधर्म धन का विनाश करता है। सच्चाई से कमाया गया धन सुफला है, अधर्म से धन कुफला है। ईश्वर सबको विमल बुद्धि दे।

विवेक धर्म का अंग है :—

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

विवेक के बिना सुख प्राप्त करना असम्भव है।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते

(गीता) ४।३८

ज्ञान के समान पवित्र वस्तु विश्व में कोई नही है।

सर्पान् कुशाग्राणि तथो दयानान् ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति।
अज्ञान तस्तत्र पतन्ति केचिज्ज्ञानं फलं पश्य तथा विशिष्टम्॥

(महाभारत शान्ति पर्व)

मनुष्य सर्प. कांटे तथा जलाशयों के मुख में उस समय गिरने से बच जाया करता है जिस समय कि उनको इनका दर्शन (ज्ञान) हो जाया करता है। सर्पादि को न देखने (जानने) पर वे इनके ऊपर गिर पड़ते हैं। जिससे दुख या मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। यही ज्ञान और अज्ञान का भेद जानना चाहिये ज्ञान सुख का कारण अज्ञान दुख का।

दर्शन का ज्ञान न होने पर विवेक बल न होने पर भोगवाद और भौतिकवाद की वेगवती धारा में बड़े बड़े ज्ञानी और विचारक भी वह जाते हैं : इन्द्रियां बहिर्मुखी होती हैं। अंतर्मुखी करने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है।

धर्म का लक्ष और फल एक होते हुये भी व्यावहारिक रूप भिन्न भिन्न है प्रत्येक देश में धार्मिक नेता हुये हैं। उन धर्माचार्यों ने जो धर्म का व्यावहारिक रूप बताया वह आदरणीय है। कोई ऐसा देश नही है जहां के लोग अध्यात्म से प्रेरित न हुये हो। विश्व की विनाश लीला देखते हुये भी यह प्रत्येक का अनुभव है कि नियमन एक अदृश्य ज्ञानमयी सत्ता विश्व का नियमन करती है तथा गत्यात्मकता जीवित रहती है सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। दर्शन कारों ने सत्य खोजने की चेष्टा की है। तत्व चिन्तकों ने अपने अनुभवों का वर्णन किया है। तार्किकों ने तर्क के द्वारा अनेक वाद निकाला, फल स्वरूप अनेकों दार्शनिक सिद्धांत बनें। द्वैत, अद्वैत, विशिष्ट द्वैत, त्रैत्वादि। सामान्य व्यक्ति इसमें उलझ जाता है कि कौनसा मार्ग ठीक है। यह विषय अतीन्द्रिय है। अतः इस विवाद न पड़कर मनुष्य को जो प्रत्यक्ष सत्य है। उस पर

विचार करना चाहिये। जन्म और मृत्यु तो, प्रत्यक्ष है जो तर्क निरपेक्ष है। जन्म और मृत्यु के मध्य का जीवन सुखमय होना चाहिये, यदि मनुष्य इस जीवन को सुखमय बनाने की चेष्टा करेगा तो उसे कर्तव्य कर्मों की आवश्यकता होगी जिसे हम धर्म कहेंगे।

समाजवाद साम्यवाद और धर्म :—

इस युग में समाजवाद और साम्यवाद से बहुत राष्ट्र प्रभावित हैं इसकी बड़ी चर्चा है। नेताओं ने इन दोनों शब्दों को बहुत प्रसिद्ध कर दिया है। क्या धर्म इससे अलग है ? अथवा धर्म स्वतन्त्र सत्ता के अंतर्गत है ? विवेचनीय है। समाजवादी एवं साम्यवादी विचार धारायें तीव्र गति से स्वतन्त्र होकर बह रही है क्या यह नवीन जीवन दर्शन समाज के लिये कल्याण कारिणी है ? क्या सुख पिपासु मानव समाज को तृप्त कर सकेगा? समाजवाद और साम्यवाद के बिना समाज का संचालन नहीं हो सकता ? इसकी आवश्यकता क्यों पड़ी समाज संचालन के लिये समन्वयात्मक व्यावहारिक सम्बन्ध प्राचीन भारतने आत्मसात किया था उसमें कोइ ऐसा त्रुटि थी जिसको नष्ट कर या गौण रूप देकर इस नवीन समाजवाद पुनः प्रतिष्ठित करें। हमारे मस्तिष्क में ये सब उद्भूत होते हैं जिसका समाधान होना चाहिये। साम्यवाद, समाजवाद के व्यापक प्रचार और प्रसार के युग में इसकी मीमांसा करना आवश्यक हो गया है।

समाजवाद शब्द से जिस मूलभूत सामाजिक एवं व्यावहारिक

दृष्टिकोण का ज्ञान होता है उसका आभास इस शब्द की उत्पत्ति से पूर्व ही आरम्भ हो चुका था, और व्यावहारिक रूप में लाया गया था। कालान्तर उसमें विकृति आ गयी थी। समाज का व्य वहारिक स्वरुप बदलता रहा है। इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि सामाजिक व्यवहार सदैव एक सा न रहा। समाजवाद समय समय पर विभिन्न अर्थों में विभिन्न सामाजिक प्रणालियों का प्रतिनिधित्व करता रहा है। किन्तु मौलिक एकता एक थी। सब के सब सहकारी भावना से ओत प्रोत हैं। और सहकारिता को प्रेरणा देते हैं अथवा प्रेरित करते हैं। निः संग और एकाकी जीवन असम्भव है। अतः स्वीकार किया जाता है कि कोई समष्टि शक्ति अवश्य होनी चाहिये। इस दृष्टि से समाजवाद एक समष्टिवादी विचार धारा है। समष्टि वाद एक व्यापक सामाजिक दृष्टि कोण का प्रतीक है। जिसके अनुसार सामूहिक जीवन, चाहे राज्य का हो या अन्य की, समूह अथवा सगठन का, प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य है। इस सामूहिक जीवन के आभाव में मनुष्य निजी नैतिक आत्माभिव्यक्ति नही पासकता। व्यक्तित्व के विकासार्थ कुछ परिस्थितियों का होना अनिवार्य है। जिनकी उपलब्धि ऐकान्तिक जीवन में नही हो सकता समूहों की सदस्यता के पश्चात् ही ऐसी परिस्थितियों का निर्माण हो सकता है। जिनमें मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास हो। सामूहिक जीवन का यह आवश्यक पक्ष समूहों के अधिकार और महत्ता की नीव डालती है। इसी कारण समष्टि वाद समष्टि की शक्ति तथा उसके अधिकारों को वैयक्तिक बल तथा अधिकारों से कही बड़ा मानता है। इस विचार धारा का फल व्यावहारिकता में सामूहिक स्वतन्त्रता और व्यक्तिगत निरंकुशता के अपहरण में है। इसी दृष्टि से व्यक्तिवाद समष्टिवाद का प्रतिवादी

दर्शन है। समष्टिवाद की ऐतिहासिक उत्पत्ति बताना सरल नही है। समाजोत्पत्ति के साथ ही समष्टिवादी दर्शन की भी उत्पत्ति हुयी होगी। जिस किसी युग विशेष में मनुष्य ने सामूहिक संगठन और उसकी उपादेयत्व की श्रेष्ठता स्वीकार की, स्थापना की होगी, मूलतः तभी से उसका दृष्टकोण समष्टिवादी रहा होगा। यह बताना कठिन है कि वह कौन मनुष्य था एवं कौन सी ऐतिहासिक अवस्था थी, यद्यपि धर्माचार्यों ने अपनी मान्यतानुसार बताने की चेष्टाकी है। और समष्टिवादी प्रतिमानो की सर्जना की। आधुनिक समष्टिवाद के विभिन्न रूप हैं। इन रूपों में अन्य सैद्धान्तिक भिन्नतायें होते हुये भी इतनी एकरूपता अवश्य पायी जाती है। कि ये सब व्यक्ति के अधिकार और उसकी शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाते हैं और सामाजिक तथा सामूहिक नियन्त्रण को मानवीय विकास के लिये अनिवार्य सिद्ध करते हैं। आधुनिक समष्टिवाद किसी न किसी रूप में व्यक्ति पर सामाजिक नियन्त्रण की स्थापना करता है,और व्यक्ति उस नियन्त्रण की अवहेलना नही कर सकता। अनेकों संगठनों की विभिन्न दिशायें हैं इनमें व्यक्ति वाद के लिये कोई स्थान नही।

संप्रति मानव जीवन इतना संश्लिष्ट (मिश्रित) है कि इसने व्यवहारार्थ असीमित संगठनों की योजनायें प्रस्तुत कर ली हैं, यदि इन संगठनों का सैद्धान्तिक आधार न हो तो भी इन संघों का जन्म और विकास हमारी व्यवसायिक सभ्यता की सापेक्षता में घर कर गया है। बड़े बड़े व्यवसाय संघों का उत्तरोत्तर उन्नति, कम्पनियों पर सामूहिक नियंत्रण निश्चय रूपसे हमारी व्यवसायिक संस्कृति के समष्टिवादी रूप की ही ओर संकेत करते हैं। इस

प्रकार संगठनात्मक शक्ति व्यावहारिक अनिवार्यता की दृष्टि से ही अपेक्षित माना जाता है। किन्तु इसकी दृष्टि एक पक्षीय समाज पक्ष पर केन्द्रित है। इससे व्यष्टि का मूल्यांकन नहीं हो पाता यह कमी है। इसमें व्यक्तित्व फीका पड़ जाता है। इतना तो आवश्यक है कि समाज और व्यक्ति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। व्यक्ति के विना समाज वन नही पायेगा अतः व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास भी अनिवार्य होना चाहिये। **समाजवाद समष्टि वादी सिद्धान्त है** या विचार धारा है अतः स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिवाद की स्वाभाविक प्रतिक्रिया या विपरीतता समाजवाद है। किन्तु इसी अर्थ में यह प्रयुक्त नही होता जो इसका आधुनिक रुप है। प्रथमतः मैं व्यक्तिवाद की व्याख्या करना चाहता हूं जिससे स्पष्ट हो जायेगा कि समाजवाद क्या है?

किस अर्थ में प्रयोग होता है और क्यों?

व्यक्तिवाद—यह शब्द अंग्रेजी के "इण्डिविजुअलिज्म" का पर्याय है। जिसका सवसे प्रथम प्रयोग आक्स फोर्ड के शब्द कोश के अनुसार हेनरी रीव्स द्वारा आङ्ग्ल में अनूदित डी टाक्वली की एक पुस्तक में मिलता है। वैसे यह शब्द फ्रेंच भाषा का ही है; किन्तु हेनरी रीव्स ने इसे कई कारणों से आङ्गल में प्रयोग किया है हेनरी रीव्स ने इस प्रयोग के जितने कारण वतायें हैं उनसे केवल इस प्रयोग के औचित्य का ही ज्ञान नही होता प्रत्युत इस शब्द की भावगत विशेषताओं का भी पता चलता है। इस शब्द के पहले अंग्रेजी में इगोटिज्म, शब्द प्रयोग होता था किन्तु वह शब्द

जिस मानसिक दृष्टिकोण और जिन नैतिक प्रतिमानों का प्रतीक था इन्डिविडुवअलिज्म उनसे कहीं अधिक संगत मानसिक दृष्टिकोण और कहीं अधिक विस्तृत नैतिक मानदण्डों का द्योतक है। इगोटिज्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रत्येक कार्य का लक्ष्य है उसका सम्पूर्ण स्नेह, समूचा लगाव अहम् के जीवित सम्पर्क से ही है अति स्वार्थमयी प्रवृत्तियां ही उसकी प्रेरणा शक्ति हैं। परन्तु इन्डिविडुअलिज्म उस मानसिक दृष्टिकोण का सूचक है जिसके अनुसार व्यक्ति समष्टि से पार्थक्य तो कर लेता है किन्तु वह घोर स्वार्थवादी मनोवृत्तियों के आवेश में आकर अपने अहम् के प्रति सम्पूर्ण स्नेह और लगाव नहीं रखता। चूंकि मनुष्य का सम्बन्ध समाज से है उसकी उन्नति के लिये समाज की भी उन्नति आवश्यक है।

अतः स्वोन्नत्ति के साथ समाजोन्नति की भावना आदर्श व्यक्ति वादी करेगा और करना चाहिये, अन्यथा समाज में एकांगी पक्ष स्वीकार करने पर विघटन पैदा होगा। जिससे अपनी उन्नति भी न कर सकेगा। प्रकारान्तर से व्यक्तिवाद समाज के प्रति उदासीन दृष्टिकोण की स्थापना है। समाज सावयविक अस्तित्व नहीं, प्रत्युत स्वतन्त्र व्यक्तियों का योग है। अतः समाज शक्ति को व्यक्ति पर, उसके अधिकारों और स्वतन्त्रताओं पर बल प्रयोग का नैतिक अधिकार नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों और स्वार्थों को जितना अच्छी तरह से समझ सकता है उतना समाज कदापि नहीं, अतः तर्क की दृष्टि से सामाजिक बन्धन, और

परम्परायें, रीति एवं रिवाज, सामूहिक संस्थायें और मान्यतायें निरंकुशता के साथ व्यक्ति पर शासन नही कर सकतीं। यदि शासन करती हैं तो इसका निर्णायक फिर कौन होगा। उचित अनुचित का विवेक जिसे हम धर्म की संज्ञा देगें। धर्म का अर्थ मत विशेष समझने के कारण, संकुचित अर्थ लगाया जाने के कारण इतिहास बताता है कि व्यक्तिवाद का हनन हुआ है। सहस्त्रों अधिकारी अनधिकारी घोषित किये गये और अपनी प्रतिभा को विकसित को न कर सके। जो नैतिक नही था। यह अवश्य है कि जब व्यक्तिवादी निजी स्वार्थों के कारण समाज के प्रति नकारात्मक दृष्टि कोण अपनाता है समाज को अपने अनुचित स्वार्थों का माध्यम बनाता है यही नही अपने स्वार्थों के कारण समाज को हानि पहुंचाता है तो वह अन्यायी अत्याचारी है। जब समाज की उन्नति में अपनी उन्नति निहित है तो हानि पहुंचाने वाला व्यक्ति वादी अपनी ही हानि करता है। इसीलिए धर्म संहिताओं में दण्ड विधान भी है। जो धर्माङ्ग है। समाज को हानि पहुंचाकर मनुष्य अपने ही अस्तित्व को खोता है क्यो कि जीवन दर्शन का समाज अंग है।

कतिपय विदेशी विचारकों का कथन है कि समाज व्यवस्था और परम्परा से हट कर भी व्यक्ति अपने अस्तित्व का भलीभांति निर्वाह कर सकता है उसकी आत्म निर्भरता निसर्ग सिद्ध है, इस विचार को आधार शिला बनाकर व्यक्तिवाद का भवन बनाने की चेष्टा की उनके अनुसार राज्य कृतिम है, मानव जन्म परम्परा का प्रतीक। अतः राज्य की परम्परा शक्ति का व्यक्ति के नैसर्गिक स्वार्थों से मौलिक विरोध है। परन्तु इस विचार और मान्यता में दार्शनिक दृढ़ता नही है। क्यों कि हम देखते हैं कि शिशु जब जन्म

लेता है तो वह निःसहाय होता है। उसको आत्म निर्भर के लिये पोषण के लिये पोषक चाहिए। यदि आत्म निर्भरता निसर्ग सिद्ध है तो निस्सहाय शिशु को पालन पोषण के लिये कोई चारा नहीं। किसी का कोई उत्तर दायित्व नहीं. ऐसी स्थिति में धर्म ही निर्देश देता है कि ऐ माता पिता शिशु का पालन पोषण करो, यह धर्म (कर्तव्य) है। माता-पिता वात्सल्य के कारण यदि शिशु का पालन पोषण करता है तो इसका अर्थ हुआ कि प्रकृति का समन्वयात्मक नियम है जो स्थायी है "व्यक्ति की आत्म निर्भरता निसर्ग सिद्ध है" यह विचार व्यक्तिवाद को बल देने के लिये खरा नही उतरता है। अपूर्ण और तत्वहीन है अवैज्ञानिक है। समाज को सदैव के लिये तिलाँजलि नहीं दे सकते हैं। कोई भी संगठित शक्ति विधि बनाकर किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति के विकासात्मक दृष्टिकोण का हनन न करे और न व्यक्ति ही समाज का अहित करे।

एकीकरण और समूह करण दोनों आदर्शात्मक दर्शन है। व्यक्तिवाद और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से अवगत जो जाने के अनन्तर समाजवाद की व्याख्या करने का प्रयास करता हूं। जो विद्वानों द्वारा किया गया और समझा गया। संप्रति समाजवाद के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु मौलिक एकता कुछ निश्चित आधारों पर स्थिति है। प्रथम आधार यह है कि समाज का वर्तमान ढांचा जर्जर है इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है। किन्तु जब परिवर्तन की बाव सोंचते हैं या परिवर्तन ही लक्ष्य हो तो समाज में परिवर्तन के पश्चात् अराजकता फैल जाने का भय भी है। इसलिये संगठित शक्ति उत्पन्न करना पड़ेगा। सामाजिक स्वरूप बदलने के पूर्व नवीन आदर्श और प्रतिष्ठा की आवश्यकता

है। यह द्वितीय आधार है। नये आदर्श कैसे हों क्या प्राचीन आदर्श ठीक नहीं था ? नवीन समाजवादी को इसका हल ढूंढना पड़ेगा। यदि नये आदर्श सैद्धांतिक और वैज्ञानिक नहीं होंगे तो हमको पुनः पीछे की ओर देखना होगा यह तृतीय आधार है जो चुप रहने के लिये और विचार करने के लिये बाध्य करता है। चौथा आधार है कि जिस किसी वैषम्य का जन्म मनुष्य ने दिया है समाज उसका उन्मूलन करेगा। क्यों कि सामाजिक न्याय को अधिष्ठित करने के लिये विषमता के हर एक रूप को नष्ट करना आवश्यक है पाँचवा आधार है कि आदर्शों की व्यावहारिकता सिद्ध करने के लिए कर्म की सक्रियता और निश्चय की दृढ़ता अपेक्षित है छटा आधार है कि समाजवाद केवल व्यवस्था विशेष नहीं वह एक सम्पूर्ण जीवन प्रणाली और व्यापक जीवन दर्शन है। ऐसा कहा जाता है। समाजवादी कहते हैं कि हर एक निर्मित पदार्थ का का मूल्य श्रम द्वारा निर्धारित होता है किन्तु पूंजीपति श्रमी को उसके श्रम का मूल्य न देकर उसे केवल उसके जीविका निर्वाह के लिए जितना आवश्यक होता है उतना ही देता है। इस प्रकार वह अतिरिक्त श्रम द्वारा निर्मित मूल्य मुनाफे के रूप में अपने पास रख लेता है। स्पष्ट हैं कि पूंजीपति श्रमिकों का शोषण करता है यह न्यायोचित नहीं है। इससे समाज का एक व्यक्ति निर्धन होता है। और पूंजीपति धनवान होता ही चला जाता है यह प्रक्रिया समाज व्यवस्था ठीक नहीं है। न मानवोचित। यह प्रक्रिया एक अंग को पुष्ट करता करता है तो दूसरे को क्षीण। इसमें न्यायोचित समता लाने के लिये समाजवाद प्रायः शान्ति मय तथा लोक तांत्रिक उपायों से प्रयास करता है। क्रान्ति के द्वारा यह वैषम्य विनाश के लिये किया

गया प्रयास साम्यवाद का कार्य है। और क्रान्ति करके समता की स्थिति ले आना साम्यवाद,

कार्ल मार्क्स का साम्यवादी दर्शन अति व्याख्यात है साम्यवादी दर्शन के दो पहलू हैं। प्रथम विश्लेषणात्मक और दूसरा क्रियात्मक इसके अनुसार समाज का विकास संघर्षों से होता है। संघर्ष वर्गों के मध्य होते हैं जिनका विभाजन आर्थिक आधार पर होता है। वर्ग संघर्षों से उत्पादन प्रणालियां उत्पन्न होती हैं जब समाज में परिवर्तन होता है तो उत्पादन प्रणाली भी परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार नयी व्यवस्था का सूत्रपात होता है। मार्क्स का साम्यवादी विचारधारा अपने क्रियात्मक पक्ष में पूंजीवादी ढाँचे को किस प्रकार बदलना चाहिए इस पर विचार करता है वह कहता था कि परिवर्तन ही कर्म है प्रत्येक व्यक्ति कर्मी है। क्रान्ति को परिवर्तन का साधन स्वीकार किया है जो वर्ग क्रान्तिकर सकता है वह सर्वहारा वर्ग है वह कहता था कि राज्य कृत्रिम है जो अपने स्वार्थों के लिये है। अतः उसने घोषणा की कि संगठन शक्ति अर्जन करके श्रमिकों एक हो जाओ तुम्हें गुलामी छोड़कर कुछ खोना है। सर्वहारा वर्ग क्रान्ति से सर्वहारा अधिनायकवाद की रचना करेगा जिसमें सर्व का राज्य होगा। धीरे धीरे समाज वर्ग हीन होकर राज्य नष्ट हो जायगा और साम्यवादी समाज की रचना होगी। मार्क्स के अनुसार जब उत्पादन के साधनों पर समाज का सामूहिक नियन्त्रण होगा तब समाज में वर्ग नही रहेगा। कार्ल मार्क्स ने घोषित किया कि मनुष्य सर्वोपरि है। यह विश्व ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं है विज्ञान युग का नेतृत्व करेगा। नूतन समाज की कल्पना होगी, इस कल्पना

में ईश्वर. शैतान पाप पुण्य, स्वर्ग, नरक कुछ भी शेष नही रहेगा। दुनियां खुशहाल हो जायेगी। कोई वर्ग नही कोई धर्म नही दुनियां व्यक्ति के लिये नहीं प्रत्युत व्यक्ति के लिए विश्व होगा।

कार्ल मार्क्स का साम्यवाद भौतिकवादी है वह अध्यात्मिक प्रत्ययों को गौण रूप देता है मैटर को प्रधान उपर्युक्त निरुपित साम्यवादी दृष्टि कोण को द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद कहते हैं। जो डाईलेक्टिकल मैटीरियलिज्म का हिन्दी रूपाँतर है जिसका अर्थ है तर्क विद्या से सम्बन्धित भौतिक वादी सिद्धांत।

भौतिकवाद की तीन मौलिक मान्यतायें हैं प्रथम यह कि वाह्य जगत हमारे प्रत्ययों, मानों का समुच्चय मात्र न होकर एक स्वतन्त्र सत्ता है। दूसरा यह किसी चेतन तत्व का परिणाम न होकर भौतिक तत्वों जड़ पदार्थों अथवा अचेतन द्रव्यों में संश्लिष्ट होकर बना है अर्थात निर्मित हुआ है। तीसरा यह कि मनुष्य में जो चेतना दिखाई देती है या चेतनाभास वह भौतिक द्रव्यों का परिणाम मात्र है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हमारे दैनिक अनुभवों और पर्यवेक्षणों पर ही आधारित है नित्य प्रति के जीवन में हम देखते हैं कि विश्व की प्रत्येक वस्तु अन्त में नष्ट हो जाती है। जिसे जीवन प्राप्त हुआ है। मरण उसका अन्तिम उपसंहार है समूची प्रकृति इस सत्य की साक्षी है परिवर्तन ही इस सृष्टि का मूल तत्व है गत्यात्मकता उसका जीवन। यहां स्थायीत्व नहीं, भगवान बुद्ध ने इसी पैना दृष्टि से इसे देखा था यदि कहीं है भी तो वह दीर्घ कालीन मात्रा की भूमिका मात्र। न जाने कब से इस अन्त हीन यात्रा का इतिहास और प्रकृति ने प्रारम्भ किया था यह

व्यापक सत्य प्रत्येक भौतिकवादी तो मानता ही है। किन्तु इस व्यापक सत्य की स्वीकृति परिस्थिति के केवल बाह्य रूप तक ही सीमित है जब तक हम उसकी मूल प्रकृति और उसके अन्तर रहस्यों का उद्घाटन नहीं करते तब तक हम वस्तुस्थिति का वास्तविक स्वरूप नही देख सकते। इन परिवर्तनों की मूल प्रकृति किन्ही निश्चित नियमों से संचालित होती है ये नियम गणित और विज्ञान के नियमों की भांति कठोर और स्थिर हैं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इन नियमों को सार्व भौमिक मानता है चाहे जीव सृष्टि हो चाहे समाज सृष्टि परिवर्तन इन्ही नियमों के अनुसार होता है सृष्टि का सारा परिवर्तन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर अवलम्बित है। ऐसा विचारक कहता है। संक्षेप में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दार्शनिक दृष्टिकोण है जिसके अनुसार सृष्टि का तत्व मैटर है जिसका निरन्तर रूप परिवर्तन हो रहा है। इस परिवर्तन की प्रणाली द्वन्द्वात्मक है। जिसके अनुसार प्रत्येक परिस्थिति के मूल में संघर्ष स्थित है। और संघर्ष इस लिये है कि उस परिस्थिति विशेष में ही उसके नाश के उपकरण सन्निहित है परिस्थिति विशेष के इन्ही विरोधी उपकरणों में संघर्ष होता है। जो कालान्तर में नयी व्यवस्था का सर्जन करता है। जिसको हम नित्य नवीनता कहते हैं। ऊपर जो द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद की परिभाषा कही गयी है वह निश्चित न हो सकी। तत्व चिन्तकों का चिन्तन जारी रहा इसका विरोध भी किया। इस दर्शन की दो भिन्न भिन्न धारायें हो गयी। द्वंद्व सिद्धाँत वस्तुतः ग्रीक शब्द डायलेगो से उत्पन्न हुआ है। जिसका वास्तविक अर्थ वाद विवाद करना होता है प्राचीन ग्रीस में वाद विवाद एक साधन था। जिसके द्वारा लोग एक दूसरे की बातों में तार्किक असंगतियों और

आत्म विरोध की ओर संकेत कर सत्यान्वेषण करते थे। उस समय कुछ ऐसे भी विचारक थे जो यह स्वीकार करते थे कि सत्य उत्पत्ति दो विरोधी बातों के संघर्ष में सन्निहित है : डाईलेक्टिक्स सत्य को पाने का बौद्धिक साधन है।

आधुनिक युग में जब विचारक हीगेल ने द्वन्द्व सिद्धांत को अपने दर्शन में प्रतिष्ठित किया। तो उसने ग्रीस वासियों की द्वंद्व कल्पना की मूल प्रकृति को अपनाया किन्तु हीगेल के द्वन्द्व सिद्धांत का यह अर्थ नही है कि हम बहस द्वारा सत्यान्वेषण करते हैं। वाद विवाद में दो विरोधी मतों में संघर्ष होता है और उसी संघर्ष से नये मत की सृष्टि होती है। हीगेल प्रत्ययवादी विचारक था वह मैटर को प्रधान नही मानता है मार्क्स का विचार इसके विरोध में है भारत में चार्वाक दर्शन भौतिक वादी दर्शन था। आधुनिक राष्ट्रों में प्रायः मार्क्स के ही भौतिकवाद का प्रभाव पड़ रहा है। मार्क्स वाद को भलीभान्ति स्पष्ट करने के लिये पुनः प्रकारान्तर से दुहरा रहा हूं जिससे नितान्त निदर्शन हो जायेगा।

मार्क्स वाद ही साम्यवाद है। साम्य का अर्थ है सादृश्य, समानता, निष्पक्षता, दृष्टिकोण की एक रूपता। साम्यतन्त्र-साम्य वाद के सिद्धांतानुसार चलने वाली शासन प्रणाली, साम्यवाद---सादृश्यता का सिद्धान्त। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित नियम जिसका उद्देश्य ऐसे वर्ग विहीन समाज की स्थापना है जिसमें सम्पति पर समाज का समान अधिकार और व्यक्ति से शक्ति भर काम लेकर उसकी सारी आवश्यकताएं पूर्ण की जायं। कार्ल मार्क्स का कथन है कि अब तक दार्शनिक केवल सृष्टि को केवल व्याख्या करते रहे है।

किन्तु अब वह समय आ गया है कि हम उसका परिवर्तन करें। परिवर्तन मूलतः क्रिया शीलता का प्रतीक है। इस लिये जिस दर्शन का लक्ष्य परिवर्तन है वह मूलतः क्रियात्मक है। अतः दो रुप हुआ। पहला सृष्टि और समाज का विश्लेषणात्मक अध्ययन और

दूसरा उसी संचित अध्ययनके आधार पर सामाजिकपरिवर्तन प्रयास

साम्य वादियों का कथन है कि सामाजिक गत्यात्मकता नियम विहीन नहीं होती, यदि इन नियमों को जान लें तो उसी के अनुरुप समाज वादी परिवर्तन कर सकेगें। साम्यवाद सृष्टि और समाज का समन्वित दर्शन हैं। इसका दार्शनिक पक्ष है कि सृष्टि का मूल सत्य पदार्थ है। साम्यवादी चेतना और द्रव्य में द्रव्य को प्रथम स्थान देता हैं। उसके अनुसार चेतना द्रव्य के पश्चात् सृष्टि में आया। अतः द्रव्य की सृष्टि चेतना से न होकर चेतना की सृष्टि पदार्थ से हुयी है। उसके विपरीत प्रत्ययवादी शाश्वत चेतना को ही सृष्टि का उद्गम स्थान मानता है। उसके अनुसार पदार्थ के जितने परिवर्तन है वे केवल चेतना जगत में होने वाले प्रत्यय विकास की छाया है। अतः शुद्ध साम्यवाद की दृष्टि वहिर्मुखी हैं। भौतिकवादी है। भौतिकवाद के भी कई रूप है। हर एक भौतिववादी इतना तो मानता ही है कि चेतना पदार्थ प्रसूत है। किन्तु चेतना और पदार्थ में क्या सम्बन्ध है? इस विषय में भौतिकवादियों में मत भेद है। यान्त्रिक भौतिक वादी अर्थात् मैकेनिकल मैटीर्यरलिस्ट कहते हैं कि चेतना का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता। यह हर एक क्षण अपने अस्तित्व के लिये पदार्थ पर ही अवलम्बित है। अतः प्रत्यय क्रियाशील नही है। तो मानव मस्तिष्क सक्रिय न होकर वाह्यगत

अनुभवों का मात्र संचित कोष है।

द्वन्द्वात्मक भौतिक वादी पदार्थ प्रसूत चेतना को एक स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में देखते हैं। इतना ही नही चेतना को क्रियाशील भी मानते हैं। उनके अनुसार वाह्य जगत का समूचा परिवर्तन पदार्थ और ज्ञान के अन्तरावलम्बन का इतिहास है।

साम्य वादी कहते हैं कि वर्ग संघर्ष दो वर्गों में होता है। इसमें से एक वर्ग जिसे शोषक वर्ग कहते हैं। समाज का आर्थिक और राजनीतिक शासन करता है। दूसरा वर्ग जिसे शोषित कहते कहते हैं उन लोगों का वर्ग है जो शारीरिक श्रम तो अवश्य करते हैं किन्तु उस शारीरिक श्रम का फल उनको न प्राप्त होकर शोषक वर्ग को प्राप्त होता है। इस लिये शोषित और शोषक वर्ग में संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। और इसी संघर्ष के मूल में विकास स्थित है। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था शोषण पर आधारित है। यह शोषण सर्वहारा का है। क्यों कि सर्वहारा शारीरिक श्रम से उत्पादन करता है, किन्तु उसका लाभ पूंजीपतियों या स्वामियों के हाथ में जाता है। इसे थ्योरी आफ वैल्यू कहते हैं। मार्क्स का कहना है कि जब आधुनिक वैज्ञानिक साधनों से युक्त मजदूर किसी वस्तु का उत्पादन करता है तभी उस वस्तु को विनियम मूल्य प्राप्त होता है। किसी वस्तु का विनियम कितना है। यह उस वस्तु का लगाये गये श्रम के बराबर है। किन्तु जब पूंजीपति श्रमी को मजदूरी देता है तो वह उसके द्वारा ही मजदूर का शोषण करता है। प्राप्त मजदूरी श्रम के बराबर नही होती मजदूर जितनें मूल्य का सर्जन करता है। जितने मूल्य का दाम

पाता है उसके अन्तर को कार्ल मार्क्स, अतिरिक्त मूल्य या सरप्लस वैल्यू कहता है। यह अतिरिक्त मूल्य भी श्रमी द्वारा निर्मित हुआ है। क्योंकि श्रमी ही मूल्य की रचना करता है। किन्तु मिल मालिक इस सरप्लस वैल्यू को अपना लाभ समझकर अपने पास रख लेता है। इस प्रकार कार्ल मार्क्स ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पूंजी वादी व्यवस्था में यह स्वाभाविक है कि मिलमालिक जो मुनाफा करें उस धन पर मजदूर का नैतिक अधिकार उसको हड़प ले। मार्क्स वाद के अनुसार राज्य भी इन आर्थिक व्यापारों का निरपेक्ष दृष्टा नहीं है। राज्य मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष का प्रतीक है अतः समाजवादी क्रान्ति द्वारा राज्य का भी उन्मूलन करना चाहता है। यह क्रान्ति सर्व हारा कर सकता है। मार्क्स ने क्रान्ति पद्धतियों और साधनों पर विशद रूप से अपने विचार व्यक्त किये हैं। साम्यवादियों के अनुसार केवल व्यावसायिक श्रम वर्ग ही शक्ति, साहस और बुद्धि रखता है। जो क्रान्ति के लिये नितान्त आवश्यक है। क्रान्ति सफल होने पर साम्यवाद की सृष्टि होती है।

पूर्व विवरण से स्पष्ट हो गया कि समाज वाद और साम्य वाद क्या है। जिससे निम्नलिखित सार भूत तत्व निकलते हैं:—

१—समाज वाद समष्टिवादी सिद्धांत है।

२—जिस किसी वैषम्य का मनुष्य ने जन्म दिया समाज उसका उन्मूलन करेगा।

३—वर्तमान ढाँचा जर्जर है परिवर्तन की आवश्यकता है।

४—परिवर्तन के लिये संगठित शक्ति पैदा करना।

५—विषमता के हर रूप को नष्ट करना। क्रिया शीलता और निश्चय की दृढ़ता।

६—पूंजी पति सर्वहारा समाज का शोषण करता है। उसी के द्वारा क्रान्ति करके मजदूर राज्य स्थापित करना, शान्तिमय ढंग से अथवा क्रान्ति मय ढंग से।
७—क्रान्ति परिवर्तन का साधन है।
८—राज्य कृतिम है। जो अपने स्वार्थों के लिये है। उसे नष्ट करना
९—वर्ग विहीन समाज की स्थापना।
१०—ईश्वर और धर्म कुछ भी नही, पाप पुण्य कुछ भी नहीं।
११—विज्ञान युग का नेतृत्व करेगा।
१२—व्यक्ति के लिये संसार साधन है।
१३—मानवीय चेतना भौतिक द्रव्यों का परिणाम है।
१४—सृष्टि का तत्व मैटर है।
१५—ज्ञानोत्पति मैटर के बाद हुयी।
१६—समाज में शोषित और शोषक वर्ग है इसे समाप्त करना।
१७—स्वामी या मिल मालिक शोषण करके धन एकत्रित करता है अतः उसका धन हड़प लेना नैतिक अधिकार है।

मीमांसा—

१—समाज वाद समष्टि वादी सिद्धान्त है तो संगठित शक्ति उत्पन्न कर ऐसे कड़े नियम भी बना सकता है जिससे व्यक्ति वाद का दमन हो। क्यों कि व्यक्ति निर्बल होता है संगठन शक्ति बलवान् अतः उसे नियम को पालन के लिये बाध्य होना पड़ता है। उसके व्यक्तित्व के विकास में व्यवधान उत्पन्न हो सकता है। अतः समाज वाद सृष्टि और समाज का समन्वित दर्शन नही प्रत्युत मेरी राय में व्यक्तिवाद और समाज वाद का समन्वित दर्शन होना चाहिये। समाजोन्नति के साथ प्रतिभा शाली व्यक्ति को इतना अधिकार देना चाहिये कि वह

अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। वहां जातिवाद आदि का बन्धन नही होना चाहिये हां वह भी अपने व्यक्तित्व के लिये समाज का हानि न करे। व्यक्ति वादी अपने स्वार्थ के लिये समाज का नुकसान नहीं कर सकता।

२—मनुष्य ने जिस वैषम्य का जन्म दिया है समाज वाद उसका उन्मूलन करेगा यह ठीक है किन्तु प्रकृति ने जिस वैषम्य को जन्म दिया उसको मिटाने के लिये साम्य वादी क्या करेंगे। मूलतः प्रकृति वैषम्य वादी है प्रकृति द्वारा निर्मित विषमता मिटाने के लिये मनुष्य विवस है। संगठित शक्ति भी विवस है। विषमता के बिना संसार बन ही नहीं सकता। क्रान्ति द्वारा भी नही हो सकता। जीव जगत, वनस्पति जगत में वैषम्य है। मनुष्य भी मूर्ख, बुद्धिमान, काला, गोरा, अन्धा, बहिर, लूला, लंगड़ा है। समाज में देखा जाता है कि एक व्यक्ति अपने बौद्धिक और श्रम बल से अपनी आर्थिक स्थिति ठीक कर लेता है। तो एक संचित धन को नष्ट कर गरीब हो जाता है : अतः सादृश्यता का सिद्धान्त मौलिक नही। संसार कर्मों का वृत्त है, कर्म में बद्ध। प्रत्येक व्यक्ति कर्मों का परिणाम है।

३—वर्तमान ढांचा जर्जर है परिवर्तन की आवश्यकता है।—— संसार स्वयं परिवर्तन शील है। इसको बल देने की क्या आवश्यकता है? परिवर्तन संसार का स्वभाव है। यदि वर्तमान ढॉचा जर्जर है तो निर्माणक कोई अपराधी है। जिसको उचित अनुचित का ज्ञान नही था। उचित अनुचित का ज्ञान कौन देता है विचारकों का मत है उसका नाम है धर्म। उचित अनुचित्त ही धर्माधर्म है।

४—परिवर्तन के लिये संगठित शक्ति उत्पन्न करना,——समझ में नहीं आता कैसा परिवर्तन भौतिक शक्तियां अपने स्थान पर ज्यों की त्यों रहेंगी। जैविक, वानस्पतिक परिवर्तन भी असंभव है। मनुष्य को घोड़ा, जामुन को आम नही बनाया जा सकता। नारी को पुरुष, नक्षत्रों को सूर्य नही बनाया जा सकता। हिन्दी को उर्दू नही फिर कैसा परिवर्तन राजनीतिक? आर्थिक ? सांस्कृतिक ? मूलतः इनमें विकृतियां ही हों अच्छाइयां न हों ऐसी भी बात नही जो खराबियां हैं उन्हे दूर कर दें न कि नये सिरे से परिवर्तन। परिवर्तन के बजाय संशोधन अधिक ठीक है।

५—विषमता के हर रुप को नष्ट करना अदूरदर्शिता का द्योतक है। जबकि एक रुप एक स्वर के दो व्यक्ति दुनियां में नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति कवि हो जाय तो कविता कौन सुने, अध्यापक हो जाय तो छात्र कहां रहे। निः सन्तान सन्तान वाला कैसे होगा

६—जब क्रान्ति के द्वारा मजदूरों का राज्य स्थापित हो जायगा तो श्रमिक वर्ग शासक होगा, और पूर्व का शासक शासित, तो क्या प्रमाण है और किस आधार पर कैसे विश्वास किया जाय कि मजदूर राज्य अवशेष समाज का शोषण नही करेगा ? शोषण तो ऐन्द्रिक सुख के लिये होता है। प्रत्येक की आवश्यकता भिन्न भिन्न है। ऐसी स्थिति में साम्यवादियों से निवेदन है कि ऐन्द्रिक सुख की सीमा निश्चित करें। कामनायें कितनी विस्तृत हों। आर्थिक वैषम्य नष्ट करने के लिये धर्म का निर्देश है। किन्तु क्रांति के द्वारा नहीं।

छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक २ खण्ड २३ में इसे मिलता है:—

त्रयो धर्मस्कन्धा: यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथम: ।

अर्थात्—धर्म के तीन भाग हैं। यज्ञ, अध्ययन, दान। यह दान प्रथम भाग है।

७—क्रांति परिवर्तन का साधन है. नही विवेक परिवर्तन का कारण है विचार के बिना क्रान्ति की भावना नही आ सकती। अन्तश्चेतना उचित अनुचित का मार्ग खोजती है। मानवता का विकास करती है। विकशित मार्ग ही धर्म है। जिसका विधान किया गया है।

८—साम्यवादी कहते हैं कि राज्य कृतिम है अपने स्वार्थों के लिये उनसे पूछना चाहता हूं कि कौन सा व्यक्ति अपने स्वार्थों के लिये नही है? राज्य को कृतिम कहना भी दूर दर्शिता नही है क्यो कि जहां तक हम मानव इतिहास का अध्ययन करते हैं। उससे पता चलता है कि समाज दो वर्गों में विभक्त है एक निर्बल एक सबल, जिस किसी युग विशेष में जब मनुष्य का सामाजिक जीवन प्रारम्भ हुआ होगा सबल के निर्बल के साथ अन्याय किया होगा, अथवा सदैव निर्बल को बलवान सताता है। तब इस विचार या नियम का जन्म हुआ होगा, अथवा होता है कि एक राजा हो जो सताने वाले को दण्ड दे। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज ने स्वंयं राजा को बनाया, राज्य की आवश्यकता पड़ी, राज्य की व्यवस्था करें कि निर्बल को सबल सता न सके, एक निर्णायक स्वामी की

आवश्यकता पड़ती है। और सदैव पड़ती है। अतः राज्य, या राजा कृतिम नही है उसको स्थायीत्व प्राप्त है। कोई भी राष्ट्र इसके बिना नही चल सकता। सदस्य समूह और अध्यक्ष की आवश्यकता है। यदि राजा या राज्य अपने कर्तव्य (धर्म) का पालन नही करता तो राजा या राज्य का दोष है। राजा को बदला जा सकता है किन्तु राज्य प्रणाली नही मिटाया जा सकता। न मिटाना ही चाहिये। क्यों कि समाज को उसकी आवश्यकता है। राजा या राज्य स्वधर्म का पालन करें। राज्य को मिटाने वाला भी तो अन्त में राजा बनेगा अतः राज्य को मिटाने से राज्य या राजा कभी समाप्त नही होता प्रत्युत बनता ही रहता है। हां होना चाहिये कि राजा कर्तव्यनिष्ठ हो ऐसे नियम न बनावें कि सामाजिक जीवन पर एकांगी प्रभाव पड़े।

६—वर्ग विहीनता का सिद्धाँत भी सारहीन है। कर्मो के आधार पर वर्ग बन ही जायगा। व्यापारियों का वर्ग, अध्यापकों का वर्ग, कृषकों का वर्ग. अधिवक्ताओ का वर्ग इत्यादि। आर्थिक आधार पर वर्ग हीनता लाने वाले साम्यवादी बतावें कि साम्यवादी सरकारके प्रधानमन्त्री का वेतन चपरासी के बराबर होगा? यदि पूंजी पति को नष्ट करना वर्ग विहीनता माना जावे तो किसी पूंजी पति को मजदूर के तुल्य ही लाभ होगा, तो कोई पूंजी पति क्यों बनेगा ? यदि पूंजी पति नही रहेंगे तो सब मजदूर ही मजदूर रहेगें। यदि सहकारिता के आधार पर समाज बने तो सभी व्यक्ति समान बल समान बुद्धि के नही होते कैसे सहकारिता के आधार पर सभी परिस्थितियों व्यावहारिक रूप देगें ? कुछ परिस्थितियों में सहकारिता

चालाया जा सकता है किन्तु सर्वत्र नहीं जहाँ आवश्यकता हो वहीं अपनाया जाय। सहकारी कार्य सम्पादन किया जाय तब भी कई सहकारी वर्ग बन जायेगें। फिर वर्गहीन समाज की कल्पना कैसी? गरीब कुछ अमीर, अमीर कुछ गरीब किया जा सकता है किन्तु मध्य की दीवाल तोड़ी नही जा सकती। ऐसा मेरा अनुभव है। समानता का सिद्धान्त प्रकृति विरुद्ध है।

१०— ईश्वर और धर्म—समाजवादियों के दार्शनिक आधार में दृढ़ता नही है। अब तक अदृश्य सत्ताओं के विषय में स्पष्ट नही बोल सके हैं। केवल तार्किक उलझनों में बधे हैं। जब ईश्वर और धर्म नही, पाप पुण्य नही, कोई अदृश्य सत्ता कर्म फल प्रदाता नही. कोई भय नही तो बलवान निर्बल को सताता रहेगा। और ऐसी अराजकता फैल जायगी जिसकी कल्पना भी मनुष्य नही कर सकता। यदि ईश्वर और धर्म कुछ भी नही है। काल्पनिक है तब भी उसकी आवश्यकता है। संसार में उसे एक काल्पनिक केन्द्र मानकर व्यावहारिक वृत्त खीचना पड़ेगा। यद्यपि उसकी सत्ता स्वयं सिद्ध है। दार्शनिक धारा की अधिक गहरायी में मैं नहीं ले जाना चाहता, किन्तु जब तक दार्शनिक आधार दृढ़ नही हो जाता तब तक कोई विचारक जो कुछ भी नियम या सिद्धांत, विधि, विधान बनायेगा तो प्रथम भूल होगा। और अवैज्ञानिक होगा। यही कारण है कि साम्यवाद सफल नहीं हो पा रहा है व्यवधान पड़ जाता है। भारत को धर्म प्राण कहा जाता है भारत ने धर्म को महान क्यों माना? क्योंकि

धर्म का ही एक मार्ग था जिस पर चल कर सुख, शान्ति, का साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है। दूसरा मार्ग नही, किन्तु धर्म के स्वरुप को भिन्न बताकर उसे कलंकित कर दिया, दुनिया को ठगने का माध्यम बना लिया।

११— विज्ञान युग का नेतत्व नही करता है कार्य प्रणाली बदलता है। भौतिक तत्वों का विश्लेषण कर उसके सत्य स्वरूप का दर्शन कराता है। किन्तु खोज जारी है पूर्णता की प्राप्ति नहीं सब कुछ होते हुये भी मानवता का पाठ नही पढ़ा सकता। विज्ञान विकास और विनाश दोनों के लिये शक्तिशाली साधन है। उपयोग का विधान धर्म ही कर सकता है।

१२— भोग्य वस्तुयें मनुष्य के लिये ही नही प्रत्युत सभी प्राणियों के लिये है। मनुष्य के पास बौद्धिक बल अधिक होने के कारण अधिक लाभ उठाता है। जो निर्बल है उसका भी हक छीन लेता है। धर्म उचित अधिकार का नियम बनाता है।

१३— यदि मानवीय चेतना भौतिक द्रव्यों का परिणाम है। तो जीवात्मा का अस्तित्व स्वीकार करना व्यर्थ है। भौतिक द्रव्यों पर ही चेतना आधारित है तो जिस शरीर में भौतिक द्रव्य अधिक है उसके बौद्धिक बल भी अधिक होना चाहिये। हाथी को मनुष्य पर शासन करना चाहिये या मनुष्य की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होना चाहिये। मोटे आदमियों को अधिक मस्तिष्क वाला होना चाहिये। छात्रों की योग्यता भौतिक द्रव्यों की के अनुपात से होनी चाहिये। साम्यवादियों

की मान्यता के अनुसार योग शास्त्र का निम्न लिखित सूत्र असत्य है।

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्व जाति ज्ञानम्

अर्थात्—योगी को संस्कारो के साक्षात् करने पर पूर्व जन्मों का ज्ञान हो जाता है।

[यो० पा० ३ वि० ३]

पर काया प्रवेशादि की विद्या काल्पनिक है ?

१४— कोई सैटर को सत्य बताता है कोई प्रत्यय को प्रधानता देता है। जब सृष्टि और संसार के नियम को ही नही समझ सके तो तज्जनित नियम कैसे बनाकर व्यावहारिक रूप देने में सफल हो सकेगें ? अतः परिणाम निकला कि वर्तमान समाज वाद जिसको चिल्लाया जाता है सत्य के खोज का प्रयोगमात्र है : स्थायी रूप नहीं।

१५— शोषित शोषक जो दो वर्गों में समाज बट गया है उसका मूल कारण है उचित अनुचित का ज्ञान कराने वाले धर्म की अपेक्षा।

१६— धन हड़पने को नैतिक अधिकार माना जाता है किन्तु यह विचार नही किया जाता कि कोई व्यक्ति अनुचित धन क्यों एकत्रित करता है। अनुचित धन से दूसरों की हिंसा होती है क्यों कि निर्धनों को मिलना चाहिये हिंसा का अर्थ निर्बल बनाना भी है। जब धन एक ही व्यक्ति के पास जमा होगा

तो दूसरों को अपने व्यावहारिक जीवन में कठिनाई होगी। दुखी होगा, दुख देना ही हिंसा है। धनी अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का पुजारी है उसके एकांगी व्यक्तिगत स्वार्थ से समाज को हानि पहुंचती है।

धर्मोपदेश है अहिंसा परमो धर्मः। धर्म को न पालन करने वाला के लिये धर्म ने ही विधान बनाया है कि उसे दंड मिलना चाहिये। धर्म की परिभाषा तो यह है कि जिससे व्यक्ति, समाज राष्ट्र और विश्व की उन्नति हो वह विधान है। व्यक्ति, समाज राष्ट्र और विश्व जो कुछ धर्म के नाम पर कर रहा है उसका स्वरूप भले ही विभिन्न हो किन्तु उद्देश्य मात्र एक है। इसी लिये तत्वदर्शी कणाद ने वैशेषिक शास्त्र में एक ही सूत्र से समाजवाद को समझा दिया।

यतोऽभ्युदय निः श्रेयस् सिद्धिः स धर्मः (वै० द०)

(धन कृतिम वस्तु है)

जब मनुष्य धर्म से धन को अधिक महत्वपूर्ण मानता है तो धन का पुजारी हो जाता है। धन से उपयोग की वस्तुयें खरीदी जाती है ऐन्द्रिक सुख के लिये, मौलिक रूप से धन की आवश्यकता ही नहीं है। न उसका कुछ महत्व है। धन व्यावहारिक जीवन के लिये केवल एक कृतिम वस्तु है। धन की प्राप्ति जीवन का उद्देश्य नहीं है।

नवम किरण

धर्मोत्पत्ति—मानव मस्तिष्क में दो प्रकार का ज्ञान संचित होता है। एक दूसरो से सीखा हुआ और एक स्वयं उसके तत्व बोध द्वारा। जिसको अन्तश्चेतना द्वारा प्राप्त ज्ञान कहा जा सकता है। अन्तश्चेतना उचित अनुचित पहचानने की आन्तरिक शक्ति है जो तत्काल बताती है कि क्या होना चाहिये, एक नैसर्गिक शक्ति है। किसी के द्वारा निर्मित नियमों के आधार पर वह निर्णय नहीं देती है। स्वयं नियम बना लेती है। अन्तश्चेतना का अपना पृथक स्वतंत्र अस्तित्व है। जो मौलिक है इसको शास्त्रीय भाषा में विवेकज ज्ञान भी कह सकते हैं। समाज में अनुचित देखकर प्रत्येक के हृदय में स्वयं एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है कि उचित क्या है। इतना ही नहीं वह क्रियात्मक रूप देने के लिये विवस हो जाता है। जिस अन्तः प्रेरणा द्वारा वह क्रियात्मक रूप देता है या प्रभावित होता है वही धर्म को जन्म देती है। अन्तश्चेतना का गुण है कि वह उचित मार्ग का ही प्रदर्शन करती है। किसी अत्याचारी या अन्यायी को देखकर एक मनुष्य के अन्दर यह विचार होता है कि इस अन्यायी को दण्ड मिलता तो अच्छा और उचित होता, एक व्यक्ति सोचता ही नही बल्कि उसे स्वयं दंड दे देता है। जिस शक्ति के द्वारा उचित विचार उत्पन्न होता है वह धर्म की परिभाषा बनाती है। ऋषियों द्वारा उचित अनुचित के विवेक ने धर्माधर्म का निर्माण किया और धार्मिक नियम बनें।

जब हम यह समझ लेते हैं कि धर्म का उद्देश्य क्या है ? तब धार्मिक नियम स्वतः बन जाते हैं। और हम बना लेते हैं। धर्म

मात्र वैयक्तिक स्वार्थ के लिये नही है। समाज में जिस धर्म को माध्यम बनाकर वैयक्तिक स्वार्थ साधते हैं वह धर्म नही है। स्वार्थी प्रवृत्ति ने धर्म का विभिन्न रूप बना दिया और जब समाज उसे समझ न सका जनता को स्वर्ग का प्रलोभन देकर नरक का भय दिखाकर धर्म के ठेकेदारों ने अपना उल्लू सीधा किया और करते हैं। यदि समाज यह समझ ले कि धर्म तो हमारी सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये अनिवार्य है तो समाज का प्रत्येक व्यक्ति धर्म से प्यार करने लगे। अतः एक बार पुनः स्मरण कराता हूं कि धर्म शाश्वत एवं कल्याण कारी कर्तव्य कर्मों का समुदाय है जिससे व्यक्ति समाज, राष्ट्र एवं विश्व की उन्नति होती है। सभी सुखी होते हैं। शान्ति प्राप्त करते हैं। धर्म के जितने भी स्वरूप दृष्टि गोचर होते हैं उसके अन्तर में यही भाव निहित हैं धर्म का उद्देश्य एक है। सत्यान्वेषण मनुष्य का स्वाभाव है। धर्म के नियमों में परिवर्तन किया जा सकता है किन्तु धर्म का उद्देश्य नही परिवर्तन किया जा सकता। धर्म के शरीर का रूपान्तर हो सकता है किन्तु उसकी उद्देश्यात्मा अमर है।

❀ ईश्वर सबको विमल बुद्धि दे। ❀

दशम किरण

धर्म और धन—धर्म से ही मनुष्य को शान्ति प्राप्त होती है। जो व्यक्ति धन के लिये रात दिन प्रयत्न में लगा रहता है। अधार्मिक विधियों से धन को एकत्रित कर लेता है। उसको उस धन में विनाश होने का भय लगा रहता है। वह बेचैन चित रहता है उसे सुख कहां धन के मद में आकर बड़े बड़े अनैतिक कार्यों को भी कर बैठता है परिणामतः उसका फल भोगता है। धन से मनुष्य तृप्त भी नही होता है।

नवित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।

धन मनुष्य को शान्ति नही दे सकता। मनुष्य को तृप्त होने के लिये धन ही सब कुछ नही है। धन से धर्माचरण करके शान्ति प्राप्त किया जा सकता है। धन के विषय में यह जानना चाहिये कि साध्य नही साधन है किन्तु अनैतिकता से अर्जित धन मनुष्य को पथ भ्रष्ट कर देता है। जिसका परिणाम है दुख धनार्जन कर्तव्य है व्यावहारिक जीवन में धन ही आधार है किन्तु उस धन का सदुपयोग करना अधिक महत्वपूर्ण है। सत्यता से धनाजन और सदुपयोग धर्म है।

सुख न धन में है।
सुख न वन में है।
सुख न मन में है।
सुख सुमन में है।

धर्म कुमन को सुमन बनाता है

चित्त की प्रसन्नता शान्ति, आर्जव, दया, शील, संयम, विनय, विवेक, निरभिमानता सहिष्णुता, सत्य प्रियता, श्रद्धा, समता, मैत्री, अहिंसा, उदारता आदि गुणों के उदय और अभिवृद्धि तथा कुकाम, कुक्रोध, कुलोभ के ह्रास के लिये और विनाशके लिये धर्म की आवश्यकता है। जहां धर्म है वहीं विजय है।

धर्म विहीन साम्यवादी की कल्पना आकाश कुसुमः—

मान लीजिये साम्यवादी ऐसी व्यवस्था उत्पन्नकरें कि हम सादृश्यता लाने के लिये राज्य नियम द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता सीमित कर देंगें, कड़े विधान बना देंगें व्यक्ति की चल सम्पत्ति और अचल सम्पति निर्धारित कर देंगें। किन्तु मनुष्य के दुष्प्रवृतियों को नियन्त्रण के लिये क्या उपाय सोचेंगें, एक व्यक्ति दुष्प्रवृत्तियों के कारण अपनी निर्धारित सम्पति भी मिटा सकता है। सद्गुणी निर्धारित सम्पत्ति के सदुपयोग से उसमें वृद्धि कर सकता है। अतः सादृश्यता का सिद्धान्त नितान्त निरर्थक है। दुर्गुणी को सद्गुणी बनाने के लिये तो धर्माचार ही सहायक होगा। कर्म के आधार पर समाज में विषमता स्वाभाविक है।

धर्म की कल्पना आरोपित नहीं है, शरीरिक क्रियाशीलता के लिये जैसे प्राण की आवश्यकता है उसी प्रकार शान्ति पूर्ण समाज के लिये, विश्व के लिये धर्म प्राण है। धर्म और मानव समाज का तादात्म्य है जिसे पृथक करने पर अशान्ति और अराजकता व्याप जायेगी। साम्यवाद पाश्चात्य विचारकों का एक अधूरा प्रयोग है। जिसका निष्कर्ष अभी नहीं निकाल सके हैं। प्रकृति के गूढ़ और ज्ञानमयी रहस्यों को जब तक मनुष्य नहीं जानेगा तब तक किसी भी प्रकार का उसके द्वारा नियम बनाया

जाना स्थायीत्व को प्राप्त नही होगा। इतिहास कई आदर्शों को लेकर काल कवलित होगया उसको हमें गंभीरता से देखना चाहिये। नये आदर्श खड़ा करने के पूर्व हमें सावधानी से सोच लेना चाहिये कि व्यवधान तो नहीं होगा।

विदेशी भौतिक उन्नति और आकर्षक सभ्यता को देखकर हमें शीघ्र प्रभावित नही हो जाना चाहिये, धर्म के वास्तविक स्वरूप को देखकर तज्जनित नियम निर्माण करना चाहिये। धर्म एक स्थानीय एक राष्ट्रीय नहीं है जैसा कि हमें इसका विभिन्न रूप दिखाई पड़ता है। कोई कहता है कि मेरा धर्म अच्छा है, दूसरा कहता है मेरा धर्म अच्छा है तीसरा कहता मेरा। वास्तव में धर्म एक ही है दो है नहीं। धर्म का वाह्य रूप परिवर्तित है। किन्तु उद्देश्य एक ही है।

असत्य बोलने वाला मनुष्य व्याघ्र से भी भयंकर होता है।

(लेखक)

एकादश किरण

विश्व में दो प्रकार की विचार धारायें प्लावित हुयीं। एक ईश्वर वादी और एक निरीश्वर वादी, या भौतिक वादी। ईश्वर वादी चिंतन पद्धति तो सहज ही में धर्मातत्व को स्वीकार कर लेते है। किन्तु निरीश्वर वादी को भी बाध्य होकर धर्म को अपनाना पड़ता है। भले ही वह धर्म नाम न रखकर दूसरा नाम करण कर दें। मानव समाज की अवश तथा निरुपाय स्थिति ने ही धर्म की शरण में जाने की चेष्टा की। क्यों कि और कोई चारा नही था।

मानव जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप और सबसे बड़ी चुनौती मृत्यु है, जो जन्म के साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है। अनेकों विवशतायें हैं जैसे:——

मनुष्य को स्वेच्छानुसार जन्म लेने का अधिकार नही है। अपनी माता और पिता को नही बदल सकता यह परम्परागत विवशता है। अपनी पीठ को नही देख सकता है। प्रकृति प्रदत्त शरीर नही बदल सकता है। विचारों और वादों की को दुनियां में कितनी भी उड़ ले किन्तु परतंत्रता उस पर हावी है। संसार का कोई भी व्यक्ति हो पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र नही है। अतः अवशता और निरुपाय के कारण अत्यन्त कम समय में मानव समाज को तथा व्यक्तिगत जीवन को एक रूप देना ही होता है। और देना ही होगा। जीवन की विवशताओं से उद्‌भूत हुयी निराशा तथा वेदना

को मार्ग खोजता ही होगा। यह एक विचित्र तथ्य है। जिस मार्ग को खोजा वह मार्ग ही धर्म है। निरीश्वर वादी भी अवशता और निरुपाय स्थिति के कारण अपना कोई न कोई मार्ग खोजता है' क्योंकि परतन्त्र है स्वतन्त्र हो नहीं सकता। निरीश्वर वादी या भौतिक वादी विचारक भी हाथ पैर पटक कर अंत में वास्तविक स्थिति में आने की चेष्टा करता है। पाश्चात्य विचारकों ने एक वाद खोज निकाला है, वह भारत के लिये नया नहीं है। युरोप का एक अपेक्षाकृत दार्शनिक पद्धति है। जिसको अ स्तत्व वाद कहते हैं। अंग्रेजी में इसे (Existentialism एगजिस टेनशियलिज्म) कहते हैं। अस्तित्व वादी विचार धारा मानव जीवन को मूलतः निरर्थक मानती है। तर्क को अक्षम समझकर त्याग देती है। तथा परम्परा गत ईश्वर में आस्था को अस्वीकार करती है। अस्तित्वादी वस्तुतः निरीश्वर वादी स्तर पर मानव जीवन के चिन्तित है।

अवशता को नष्ट करने के लिये प्रयत्नशील है किन्तु कोई मार्ग नही खोज सका चक्कर ही काटता है। इस विचार पद्धति में जीवन की समस्याओं पर विचार मुक्त भोगियों के द्वारा होता है। मृत्यु पर विजय नही प्राप्त कर पाता है। जब प्रकृति के आंतरिक नियमों को मनुष्य बदल नही सकता तो स्वतन्त्र रूप से कोई वाद कैसे निश्चित कर सकता है ? अतः निरीश्वर वादियों से प्रार्थना है कि प्रथम प्रकृति के नियमों को खोजे पश्चात सिद्धान्त बनावे अन्यथा नियम स्थायी न बन सकेंगे। ऋत अथवा सत्य को जब हम बदल नही सकते तब हम कैसे ऋत के आधार पर बने नियमों को जिसके आधार पर धर्म का निर्माण हुआ है अवहेलना कर सकते हैं। उसकी स्वतः आवश्यकता होगी। ऋत को अदृश्य करके

मन माना कर्तव्य नियम नही बना सकते। तर्क और अनुभव द्वारा हम सत्य का दर्शन करें और नियम बनावें किन्तु अन्धविश्वास के आधार पर बने नियम को न मानें। यदि ईश्वर की सत्ता न स्वीकार की जाय तब भी प्रत्यक्ष सत्य को बाध्य होकर स्वीकार करना ही पड़ेगा। यह प्रत्यक्ष सत्य, मृत्यु और विवशता है स्वतंत्रता नही तो सुख कहां ? आनन्द मनुष्य की स्वाभाविक भूख है मिटती नही। आनन्द की खोज में मनुष्य युद्ध को भी अपनाता है युद्ध में एक वर्ग को दुख होता है एक वर्ग को सुख होता है। किन्तु सुख की प्राप्ति सबका मौलिक अधिकार है अतः युद्ध रूपी अग्नि को धर्म रूपी जल ही शान्त कर सकता है। जिसको हम धर्म न कह कर उचित कहते हैं। धर्म और उचित एक ही वस्तु है।

ईश्वर को न मानने पर भी कर्तव्य कर्म की आवश्यकता मनुष्य समाज को स्वतः है। कर्तव्य कर्म के विना मानव समाज जीवित नही रह सकता, चाहे जितना प्रयोग करके देखा जाय। संसार में अनेकों वादों का प्रयोग चल रहा है। चाहे जिस वाद को समाज स्वीकार करे किन्तु धर्म के बिना प्राण हीन हो जायगा, युद्ध मानव जीवन को सुखी करने के लिये अंतिम प्रयत्न है नहीं। बौद्ध दर्शन ईश्वर को ओझल करता है किन्तु कहता है कि करुणा को अपनाओ, जीवों पर दया करो। प्रत्येक व्यक्ति को सुख प्राप्त करने का मौलिक अधिकार है मत छीनो। ईश्वर की सत्ता न स्वीकार करने पर भी समाज में शान्ति और सुख स्थापित करने के लिये धर्म ही आधार है, समाज में धर्म की आवश्यकता न स्वीकार करने वाले विचारक अभी पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सके हैं।

प्रश्न:—जब धर्म की इतनी बड़ी महत्ता है तो समाज ने बहुमत से अब तक क्यों नही अपनाया ?

उत्तर:—वास्तव में धर्म का अर्थ गलत बताकर स्वार्थी धर्माचार्यों ने संसार को ठगना प्रारम्भ किया, अपनी जीविका का साधन बनाया। धर्म तत्व के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण नहीं किया। अतः समाज ने धर्म को एक वर्गीय धन समझा। और कहा धर्म तो ब्राम्हणों के लिये है। वस्तुतः धर्म मानवीय उन्नति का साधन है सुख प्राप्ति का कारण है। जो सबका है। किसी व्यक्ति विशेष का नहीं। जैसा कि पूर्व कहा गया है। संसार का कोई विचारक चाहे जिस वाद को प्रचलित करें किन्तु कतव्य कर्म के विना समस्या सुलझेगी नही उलझती ही रहेगी। अतः धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ कर कर्तव्य पथ पर चलता चाहिये।

भारतीय तत्व चिन्तकों ने धर्म को केन्द्र विन्दु मानकर १६ संस्कारों की जो परिधि खीची थी वह मानवीय उन्नति को दृष्टिकोण में रखकर ही. उस पर चलना वैज्ञानिक जीवन है, जिसे आज का समाज परम्परा समझकर गौण रूप देता चला जा रहा है।

अग्ने व्रत पते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीदमहं वऽएवाऽस्मि सोऽस्मि ॥

(यजुर्वेद)

हे (अग्ने प्रभु! हे (व्रतपते) व्रतो के पालक! (व्रतम) व्रत को

(अचारिषम) अपनाया। (तत् अशकम्) वह पालन करने में समर्थ हुआ। (मे) मेरा (तत्) वही कर्तव्य कर्म (अराधि) सफल हुआ। (इदम् अहम्) वर्तमान में मैं। (य एव अस्मि) जो भी जैसा हूं (सः अस्मि) वही मैं हूँ।

भावार्थः—ज्ञातव्य है कि जब जैसा कर्म करता हूं वैसा ही ईश्वरीय नियम में बद्ध होकर फल प्राप्त करता हूँ। और करूंगा। मनुष्य गण अपने कर्म के विपरीत परिणाम को नहीं प्राप्त होते हैं। सुखार्थी को धर्मयुक्त कर्म ही करना चाहिये जिससे कभी दुख न हों। किसी भी कर्तव्य कर्म का फल मनुष्य को निश्चय प्राप्त होता है।

सत्य भाषणात् सत्याचरणाच्च
पर धर्म लक्षणम् किंचिन्नास्त्येव ।

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका)

卐 卐 卐 卐

द्वादश किरण

धर्म और मत में अन्तरः—

धर्म— उन कर्तव्य कर्मो का नाम है जिससे अपना, परिवार का, समाज का, राष्ट्र का एवं विश्व का कल्याण हो। विश्व में शान्ति और सुख का साम्राज्य हो।

मत— उस अध्यात्मिक अथवा दार्शनिक सिद्धान्त का नाम है जो आचार्य, तत्व मनीषी अथवा संत ने अध्ययन, अनुभव एवं चिन्तन के द्वारा निश्चित किया। मानव समाज का धर्म स्वरूप एक है उद्देश्य एक है किन्तु मत अनेक है। मत वादियों ने अनेकों ऐसे क्रिया कलापों को निर्माण किया है जो उस मत को मानने वालों को करना अनिवार्य होता है मत सम्बन्धी क्रिया कलापों का वाह्य रूप विभिन्न है किन्तु उनके अन्दर मत की आत्मा, 'सुख शान्ति की खोज और प्राप्ति" ही है। मनुष्य अनेको दार्शनिक मान्यताओं में अपना मार्ग नही स्थिर कर पाता है भ्रमित हो जाता है सोचताहै क्या सत्य है किसे स्वीकार किया जाय? सिद्धान्ती परस्पर विवाद करते हैं।

ऐसी स्थिति में मनुष्य को चाहिये कि उन कर्तव्य कर्मों को अपनावें और गुणोंको धारणकरें जिससे कोई मतावलंबी विरोध नही करता है। जो सर्व मान्य है जिससे शारीरिक आत्मिक, सामाजिक उन्नति होती है। सुख शान्ति का प्रसार होता है। मनुष्य विवाद में न पड़े। जिस व्यक्ति में विवेक शक्ति है वह तो सत्यान्वेषण करके अपना मत

स्थिर कर लेगा। किन्तु सर्व साधारण निम्न कर्तव्य समूह और गुण समूह आत्मसात करे। जो अविरोधी हैं।

गुण — चित्त की प्रसन्नता, दया, शील संयम, विनय निरभिमानता, सहिष्णुता, सत्य प्रियता, मैत्री, अहिंसा. उदारता, कुकाम, कुक्रोध, कुलोभ, परोपकारिता अस्तेय, पंच यज्ञादि।

कर्तव्य—अमृत वेला में उठना, स्नान, सात्विक भोजन स्वास्थ्य को ठीक रखने वाले नियमों का पालन आदि। उपरोक्त गुण और कर्तव्य ऐसे हैं जिनका विरोध नहीं है और मानवता के विकास में सहायक हैं। मनुष्य में जो सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति है उसी ने अनेक दार्शनिक तथ्यों का उद्घाटन किया, किन्तु सत्य एक ही सकता है। भारतीय तत्व चिन्तकों ने सत्य को व्यक्त कर लिया था किन्तु समय चक्र कुसाहित्य, अति इन्द्रिय भोग वाद के संघर्ष ने सत्य पर पर्दा डाल दिया। आज का उदात्त नागरिक इसके लिये चिन्तित है वह अपने भूले आदर्श को कैसे स्थापित करे? हमारा नवीन जीवन दर्शन क्या होगा? अति इन्द्रिय भोग वाद ने संसार के समक्ष एक भयंकर आपत्ति खड़ा कर दिया है।

यदि भोगवाद व्यवस्थित नियम से नियन्त्रित न होगा अर्थात् धर्म से पृथक रहा जायगा, नैतिकता का विकास नहीं किया जायगा तो विश्व में प्रबन्धकों और रक्षकों की संख्या बढ़ाने से कल्याण नहीं होगा। इस सत्यभूत सिद्धांत को विस्मृत नहीं करना चाहिये जो कटु सत्य है। राष्ट्र के

नेताओं को यह स्मरण रखना चाहिये। यदि हमारे कर्णधार ही इन्द्रिय वाद में प्लावित होगें तो विश्व का भविष्य उत्तम नहीं।

उदात्त मानवीय गुणों का ग्रहण करना, मानवता का विकास करना, धर्मात्मा बनना बहुत सरल है, किन्तु मतवाद में पड़ना उलजन पूर्ण है।

बुद्धि वादी विचार:———

एक शब्द है बुद्धिवाद, इस शब्द का प्रयोग एक ऐसे व्यापक दृष्टिकोण के अर्थ में किया जाता है जो जीवन तथा जगत को जानने एवं उसकी व्याख्या करने में मनुष्य की बुद्धि को सर्वोपरि महत्व देता है। वह परम्परा, आप्त वचन धार्मिक पवित्र ग्रन्थों आदि में अन्ध श्रद्धा के विरुद्ध विद्रोह है। ज्ञान और श्रेयान्वेषण में यह मनुष्य की बुद्धि को ही उत्कृष्ट स्थान देता है। आभ्यन्तर एवं बाह्यः प्रकृति की विश्लेषण करने में यह ईश्वर जैसी परा प्राकृतिक मान्यताओं में विश्वास नही करता, वरन् विज्ञान द्वारा प्रस्तुत ज्ञान को स्वीकार करता है। जो तथ्य वैज्ञानिक विचारण और प्रणाली की कसौटी पर खरा नहीं उतरता उसे वह सत्य नही मानता। इस प्रकार यह विशुद्ध प्रकृति वादी. इन्द्रिय प्रत्यक्ष परक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है स्पष्ट है कि ऐसा दृष्टिकोण, ईश्वर, परम्परीण. धर्म परलोक, पुनर्जन्म आत्मा आदि को अन्ध विश्वास समझता है। मानवीय संस्कृति के इतिहास में बुद्धिवाद दृष्टिकोण समय समय पर व्यक्त होता रहता है। दृष्टान्त के लिये चार्वाक दर्शन है। निर्वाण को जीवन का श्रेय बताने वाले दयालुता का पाठ पढ़ाने

वाले बुद्ध तत्वतः निरा बुद्धिवादी थे। विज्ञान की कतिपय सफलता के कारण इस युग की प्रवृत्ति बुद्धि वादी है।

जब हम धर्म के सभच्च तत्व को समझ लेते हैं तो हमारे मस्तिष्क में स्वतः उसकी रूप रेखा खिच जाती है। हम कहते हैं शारीरिक, आत्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उन्नति ही हमारा धर्म है।

वाह्याडम्वर, मतमतान्तर से सम्वन्धित चिन्ह। तिलक, छाप, माला, जटा, दण्ड कमन्डलादि की यदि किसी दृष्टि से उपयोगिता है तो मैं उसका विरोध नहीं करता हूं। मेरा कहना है कि धर्म की जो परिभाषा निश्चित कर दी गयी है। उससे सम्वन्धित सभी कार्य धर्मान्तर्गत है। यदि प्राणायाम से शारीरिक उन्नति होती है तो प्राणायाम करना धर्म है।

मत मतान्तर एक कंटकाकीर्ण अरण्य ——

सिद्धान्ती प्रायः अनेकों तर्क उपस्थित करके स्वमत को सत्य बताते हैं, विचारशील व्यक्ति उलझनमें पड़ जाता है। ऐसे उलझनों में न पड़कर मानवता को विकसित करने वाले जो उदात्त गुण हैं ग्रहण करना चाहिये और धर्म को अपनाना चाहिये। दृष्टान्त के लिये कतिपय तार्किक तथ्य मतों के सम्वन्ध में उद्धृत करना अप्रसांगिक न होगा —

शास्त्रों एवं उपनिषदों में अतीन्द्रिय विषयों का वर्णन है। तत्व चिन्तकों ने अनेकों प्रकार से समझाने की चेष्टा की है। आचार्यों ने जिस जिस प्रकार से समझा अपना अपना

सिद्धान्त स्थिर किया और प्रचार किया, विवाद किया, तर्कों और शंकाओं से परिपूर्ण मस्तिष्क वाला व्यक्ति कभी कभी दार्शनिक सिद्धान्तों से घृणा करने लगता है। क्यों कि समस्यायें सुलझती नहीं वरन् उलझने लगती हैं। सिद्धान्ती अपनी मान्यता की पुष्टि के लिये मनमानी मन्त्रों का अर्थ करते हैं।

"तत्त्वमसि" इस उपनिषद्-वाक्य में तत् पद से ब्रम्ह या परमात्मा का और त्वम् पद से आत्मा या जीवात्मा का बोध होता है। इसमें दोनों का सम्बन्ध दिखाया गया है। पर इसकी विविध व्याख्या सम्भव होने के कारण दोनों में विविध सम्बन्धों की खोज की गयी है।

(क) शंकराचार्य प्रभृति अद्वैत वादी दोनों में अभेद सम्बन्ध मानते हैं और 'तत्त्वमसि' का सीधा अर्थ कि "तू (त्वम्) तत् (ब्रह्म) है" करते हैं।

(ख) मध्व जैसे द्वैतवादी दोनों में शाश्वत भेद मानते हैं और वाक्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं——

तस्य त्वम् असि अर्थात् उसके तुम हो। वह तुम्हारा स्वामी है और तुम उसके सेवक हो। तत्वमसि वाक्य में ये लोग 'तत्त्वम्' में समास मानते हैं।

(ग) रामानुज जैसे विशिष्टाद्वैतवादी दोनों में भेद से विशिष्ट अभेद का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। इनके मत से वाक्य विग्रह 'तत् त्वम् असि' वह तू है— यही है। पर जीवात्मा देह या अंग है और ब्रम्ह देही या अंगी। जैसे तुम 'ब्राम्हण' हो, 'तुम मनुष्य हो' आदि वाक्यों में 'तुम' पद से ब्राम्य

जीवात्मा को ब्राम्हण जाति का, मनुष्यता से युक्त हैं। इस प्रकार इनके मत में दोनों में अंगागिभाव का सम्बन्ध निश्चित होता है।

(घ) निम्बार्क जैसे द्वैताद्वैतवादी भेद तथा अभेद, दोनों मानते हैं। तत्वमसि की व्याख्या तत् त्वम् असि— वह तू है— यही है। पर इसका बोध "स्फुलिंग अग्नि है" "किरण सूर्य है" आदि वाक्यों की भाँति है। जैसे स्फुलिंग और अग्नि अथवा किरण और सूर्य परस्पर अभिन्न तथा भिन्न दोनों हैं, वैसे जीवात्मा और ब्रम्ह परस्पर भिन्न तथा अभिन्न दोनों हैं।

(ङ) वल्लभाचार्य जैसे शुद्धाद्वैतवादी तत्वमसि की व्याख्या तस्मात् तत्वमसि— 'तुम उससे हो' ऐसी करते हैं। उनके मत से जीवात्मा परमात्मा से उद्भूत है। और परमात्मा करण रुप से अपने कार्य रुप जीवात्मा में रहता है। इस प्रकार दोनों में आत्यन्तिक अभेद नही है, क्यों कि परमात्मा अनुत्पन्न है और जीवात्मा उत्पन्न तथापि दोनों में अभेद है।

(च) चैतन्य जैसे अचिन्त्य-भेदाभेद वादी दोनों में अचिन्त्य भेदाभेद मानते हैं। इनके मत से ब्रम्ह में अचिन्त्य शक्तियां हैं। जिनमें तीन मुख्य हैं। स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति या जीव शक्ति और माया शक्ति। इस प्रकार जीवात्मा परमात्मा की शक्ति है। वह ईश्वर से न तो नितान्त भिन्न है न अभिन्न दोनों पृथक पृथक मानने में तार्किक दोष है।

इस प्रकार मतमतान्तरों के सम्बन्ध में यदि विस्तृत व्याख्या की जाय तो एक विशाल ग्रन्थ तैयार हो जाय। जो मनुष्य की बुद्धि

को चक्कर में डालने के अतिरिक्त और कुछ नही है। इसी प्रकार निराकार और साकार के संवन्ध में भी सब की पृथक मान्यतायें हैं।

हमारा कर्तव्य (धर्म)

उपरोक्त मान्यताओं में वुद्धि जिसे स्वीकार करे उसे मानना चाहिये, किन्तु किसी भी आचार्य को, सत्य शोधक को घृणा की दृष्टि से नही देखना चाहिये वरन् आदर करना चाहिये, विरोधात्मक स्थिति उत्पन्न होने पर अशान्ति फैलती है, 'धर्म अशान्ति विरोधी तत्व है' मतमतान्तर का उलझन पूर्ण समझ कर मैंने स्वरचित ग्रन्थ मंदाकिनी में लिखा है (द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत अमितवाद हैं तर्क वितर्क ब्रम्ह ध्यान में डूबा मन, कौन करे इनसे सम्पर्क)।

वैदिक त्रैत सिद्धान्त

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते।
ततः परिष्व जीयसी देवता सा मम प्रिय!॥
[अथर्ववेद १०.८।२५]

एक पदार्थ है जो बाल से भी अत्यन्त सूक्ष्म है, 'अणु रूप है' एक पदार्थ है जो दीखता ही नहीं। तदन्तर एक देवता है, वह दिव्य शक्ति है, समग्र जगत में ओत प्रोत है वह देवता मेरा प्रिय देवता है।

मन्त्र में "वालात् अणीयस्कम्" द्वारा जीवात्मा की ओर संकेत है। 'नैव दृश्यते' द्वारा प्रकृति की ओर, तथा 'परिष्वजीयसी

देवता' द्वारा ब्रम्ह की ओर निर्देश है।

'बाला देक मणीयस्कं' की व्याख्या के रूप में श्वेताश्वतर उपनिषद का निम्नांकित श्लोक है। यथा———

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चान्त्याय कल्पते॥
(अ० ५ श्लो० ६)

वाल के अग्रभाग के १०० टुकड़े करो और १ टुकड़े के १०० भाग करो तो यह अन्त के भाग जितना अर्थात् १ बाल का १/१००० वाँ हिस्सा जीवात्मा जानना चाहिये, ऐसे जीव संख्या में अनन्त हैं। "एकं नैव दृश्यते" द्वारा प्रकृति का कथन हुआ है। मूल प्रकृति दीखती नही। दीखने का तात्पर्य है 'प्रत्यक्ष अनुभव'।

जीवात्मा की अनुभूति तो 'अहम्' अर्थात् "मैं" रूप में सर्व साधारण को हो रही है। अव्याकृत अर्थात् मूल प्रकृति की प्रत्यक्षानुभूति किसी को भी नही होता। केवल व्याकृत प्रकृति का ही प्रत्यक्ष होता है, जो मूल प्रकृति का विकृति रूप है मूल प्रकृति का अनुमान ही होता है। अतः नैव दृश्यते द्वारा मूल प्रकृति का ही निर्देश किया गया है। योगियों को ब्रम्ह की भी साक्षात् अनुभूति होती है। 'परिष्वजीयसी देवता द्वारा सर्व व्यापक ब्रम्ह का निर्देश हुआ है। जीव + प्रकृति + ब्रम्ह का अनादित्व प्रमाणीत है। अतीन्द्रिय विषयों पर तर्क ही मेरा गुरु है।
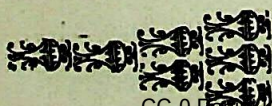
त्रयोदश किरण

दार्शनिक सिद्धान्त का अन्वेषी शास्त्रों का अध्ययन करता है; किन्तु वेदों और दर्शनों के गम्भीर अध्ययन से ज्ञात होता है कि दर्शनों का उद्गम स्थल वेद ही है। प्रकाशन्तर एवं शब्दान्तर से वेदों में ही उनका बीज विद्यमान है जो आगे चलकर पल्लवित पुष्पित और फलित हुआ है। वेदों में त्रैत सिद्धान्त की पुष्टि एक रूपक द्वारा भी की गयी है:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥
[अथर्ववेद ९।९।२०]

अर्थात दो पक्षी हैं जो परस्पर सहयोगी हैं। साथ साथ रहते हैं। ये दोनों एक वृक्ष का आलिंगन किये हुये हैं। इन दोनों में से एक यानी जीवात्मा तो वृक्ष के फलों को स्वादिष्ट जानकर खाता है और दूसरा अर्थात ईश्वर बिना खाये हुये देखता रहता है। मंत्र में प्रकृति को वृक्ष कहा गया है। ब्रम्ह जीव और जगत का कारण अनादि सनातन हैं। ब्रह्म और जीव व्यापक व्याप्य भाव से संसार में सख्य मित्र के समान चले आते हैं। मित्र कार्य रूप जगत में शरीर धर कर पुण्य पाप का फल भोगता है। सर्व शासक परमात्मा सृष्टि और प्रलय में एक रस बना रहता है। तत्व मनीषियों का यह आध्यात्मिक विज्ञान है। भौतिक विज्ञान सृष्टि की समस्याओं का समाधान नही कर सकता है। वैज्ञानिकों ने जो प्रकृति और शक्ति की जो विश्लेषण की है वह तीन प्रकार के परमाणु

Electron, Proton और Neutron है ये ही जगत के मूल माने जाते हैं। यह प्रकृति की व्याख्या के रूप में हमारे सामने रखे गये हैं परन्तु सत्व + रजस् + तमस् गुणों पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि ये तीन इन्ही गुणों के रूप हैं, हमारे दर्शनों में प्रकृति के तीन गुण हैं । Electron, Proton, Neutron का संघात रूप ही त्रिगुणात्मक प्रकृति का स्वरुप ज्ञात होता है। भौतिक विज्ञान ने ईश्वर को ठुकराया किन्तु विश्व के उत्पत्ति स्थिति और प्रलय की समस्या को समझा नही सका अब तक। वैदिक त्रैत सिद्धान्त की व्याख्या संक्षिप्त में निम्नांकित है :—

प्रकृति जगत का उत्पादन कारण है। ईश्वर की निमित्तता से सेन्द्रिय-निरीन्द्रिय जगत उससे उत्पन्न होता है। प्रकृति नित्य है परन्तु परिणामी नित्य है। सत्व रजस् तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति कारणावस्था में साम्यावस्था में रहती है। और जगत बनने की अवस्था में वैषम्यवस्था में होती है। ब्रम्ह की निमित्तता से प्रकृति में हलचल होकर उससे महत्तत्व, महत्तत्व से अहंकार, अहंकार से एक ओर शब्द स्पर्श रुप रस गन्ध आदि तन्मात्रायें और दूसरी मन और इन्द्रियां उत्पन्न होतीं हैं। तन्मात्राओं से पुनः पृथ्वी जल, आकाश वायु; अग्नि आदि पंच भूत उत्पन्न होते हैं। इनसे विविध जड़ वस्तुयें और शरीर आदि को उत्पत्ति होती है। जीव, ब्रह्म, प्रकृति तीनों अनादि नित्य है। यह वैदिक दर्शन प्रसंग वस इस लिये कह दिया गया है कि पाठकों के मस्तिष्क में दार्शनिक दृष्टिकोण की छाया रहे अनभिज्ञता न रहे।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुष्ठिन्हि मानवः
इह कीर्तिमवा प्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ।
(मनु स्मृति)

जो मनुष्य वेद तथा शास्त्रों में वर्णित धर्म पर चलता है, वह संसार में यश प्राप्त करता है। और मृत्यु के उपरान्त सर्वदा आनन्द भोग करता है।

वेद स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।
(मनु स्मृति)

वेद, शास्त्र, सदाचार और अच्छे पुरुषों की कार्य प्रणाली जिससे अपने चित्त को सत्य और पूर्ण विश्वास हो यह चारो धर्म के लक्षण है।

आपत् धर्म और आचार :—

धर्म संहिताओं में जो आचार का आदेश दिया गया है वह वैज्ञानिक है एवं उन्नति का कारण है समय उसे ठुकराता चला जाता है। किसी विशेष परिस्थिति में आचार का उलंघन किया जा सकता है उसमें दोष नहीं किन्तु यदि कोई व्यवधान नही है तो आचार का उलंघन नही करना चाहिए। देश काल परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक देश के आचारों में अन्तर हैं हम भारतीयों के लिये अपने ही देश का आचार उत्तम हैं। उठना; बैठना, सोना,

जागना, भोजन, अभिवादन आदि के विषय में हमें भारतीय पद्धति ही अपनानी चाहिये। हम प्रायः उसका महत्व नही समझते हैं। कहते हैं कि हाथ पैर धोकर भोजन करना चाहिये—उद्विग्न चित थकावट आदि से अवस्था बिगड़ती है। पैर पर शीतल जल पड़ने पर मस्तिष्क में शीतलता का अनुभव होता है चित्त स्थिर हो जाता है। तदन्तर भोजन करने पर शरीर की स्वाभाविक अवस्था नही बिगड़ती है। इसी प्रकार प्रत्येक आचार के विषय में समझना चाहिये। आचारों को अपनी स्वाभाविक आदत समझनी चाहिये। जहां आचारों के सम्बन्ध में धर्म कह दिया गया है वहां वास्तव में उन्नति के लिये वैज्ञानिक तथ्य हैं। शारीरिक उन्नति से आत्म बल भी बढ़ाता है शारीरिक, आत्मिक आध्यात्मिक उन्नति धर्माङ्ग है।

[समाज सेवा का सिद्धान्त धर्मान्तर्गत]

दूसरों की उन्नति में अपनी उन्नति निहित है 'यतो अभ्युदय निः श्रेयस् सिद्धिः स धर्मः" में बताया गया है कि जिससे इस लोक और परलोक की उन्नति हो वह धर्म है। अपनी उन्नति कैसे होगी ? शारीरिक, आध्यात्मिक, आत्मिम एवं मानसिक उन्नति से। यदि मैं बीमार पड़ूं तो दूसरा जो निरोग होगा वही तो मेरी चिकित्सा करेगा या करायेगा। समाज का व्यक्ति धनी होगा तभी तो मुझे ऋण दे सकेगा, यदि मैं अशिक्षित हूं तो समाज का व्यक्ति शिक्षित होगा तभी हमें शिक्षित कर सकेगा सैद्धान्तिक रूप से कोई भी ऐसा व्यक्ति नही है जो समाज से पृथक अस्तित्व स्थापित करके अपनी उन्नति कर ली हो। निःसहाय शिशु का पालन पोषण समाज ही करता है। हमने जो कुछ सीखा है उसका उपकरण तो

समाज में पहले से ही संग्रहीत था। हम विद्यार्थी हैं तो हमें गुरु की आवश्यकता है। यदि हम सताये जाते हैं तो हमें बलवान रक्षक की आवश्यकता है। हमारी उन्नति में सामाजिक उन्नति अपेक्षित ही नहीं अनिवार्य है किन्तु वस्तु स्थिति इसके विपरीत है। हम दूसरों की उन्नति देखकर कुढ़ते हैं, जलते हैं। जबकी हमारी उन्नति उसमें निहित है। मान लीजिये आप कोई सुखोत्सव मनाने जा रहे हैं यदि समाज दुखी है तो आपके उस आनन्द में कौन प्रविष्ट होगा ? अतः हम सुखी होना चाहते हैं तो दूसरों को या समाज को सुखी बनाने की भावना मुझमें होनी चाहिये। यदि अपनी आकांक्षा को मारकर दूसरों की इच्छा की पूर्ति में लग जॉय तो संसार में मधुरता उत्पन्न हो। संसार मुझसे प्रेम करेगा।

हम अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये दूसरों की या समाज की हानि तक कर डालते हैं। यही विघटन का कारण है। शान्ति की स्थिति असंतुलित हो जाती है। संसार को अपनी ही इच्छा का दास बनाना बुद्धिमत्ता नहीं है। हमें दूसरों की इच्छा का भी ध्यान रखना चाहिये।

सामाजिक उन्नति में यदि हमारी उन्नति निहित है तो समाज की सेवा करना मेरा धर्म है। मतावलम्बियों द्वारा निर्देशित वाह्य आडम्बर धर्म नही है। जिसको हम समझ बैठे हैं। समाज में नेता बन कर, पदाधिकारी बन कर ही सेवा किया जा सकता है। यह स्वार्थी व्यक्ति की उक्ति मात्र है। प्रत्येक परिस्थिति में मनुष्य समाज की सेवा कर सकता है। समाज सेवा की भावना दृढ़ होनी चाहिये। बहुतों का कथन है कि मैं धनी होता तो दूसरों की

सहायता करता, बलवान होता तो दूसरों रक्षा करता, विद्वान होता तो दूसरों को विद्या दान करता न्यायाधीश होता तो न्याय करता, स्मरण रखें कि यदि आप नेतादि बन कर ही सेवा कर सकते हैं ? तो मैं समझता हूं कि आप के अन्दर निजी स्वार्थ की भावना का बीज भी विद्यमान है।

यदि समाज सेवा की भावना आप के अन्तर्गत है तो आपः—

१—अन्धे को मार्ग बताना ।

२—प्यासे को पानी पिलाना ।

३—उलझे व्यक्ति को उचित परामर्श देना ।

४—समाज के लिये कल्याणकारी कार्यों में योग दान।

५—संगठित शक्ति उत्पन्न करके कोई महान कार्य करना ।

६—खोये बच्चों का पता लगाना।

७—भूल गये धन को उस व्यक्ति के पास पहुचाना

८—ट्रेन या बस की सीट पर दूसरों को भी स्थान देना।

९—भीड़ में वृद्धा का टिकट खरीदना ।

१०—अपनी शक्ति और अर्थ के आधार पर निर्बल और निर्धन की सहायता करना ।

११—दुखिया या आपत्ति ग्रस्ता को शान्त्वना देना ।

१२—शव के अन्तिम संस्कार में शामिल होना । इत्यादि सब कुछ कर सकते हैं ।

समाज की सेवा करने वाला धर्मात्मा है जीवन उपदेशकी मौन भाषा है।

छात्र—छात्रा धर्म :—

१—ईश्वर प्रार्थना।
२—गुरुजनों में पूज्य भाव।
३—स्वास्थ्य नियमों का पालन।
४—नियमित अध्ययन।
५—अमृत वेला में पठित पाठों का स्मरण।
६—साथियों में बन्धुत्व भाव।
७—सादगी और सरलता।
८—मादक द्रव्यों का त्याग।
९—विनम्रता।
१०—प्रत्येक कार्य में नियमितता।
११—स्वदेश प्रेम।
१२—आत्म विश्वास [मैं पढ़ लूंगा]
१३—इन्द्रिय संयम।
१४—सत् साहित्य प्रेम।

अध्यापक धर्म :—

अध्यापक समाज का आदर्श व्यक्ति होता है उसे कर्तव्य बताने की आवश्यकता नही, जो अध्यापक स्वधर्म का पालन नही करता वह अध्यापक है ही नही। पुनरपि १२ सूत्री कार्यक्रम निर्धारित किया जा रहा है। [जो पृष्ट ११२ में अंकित है]

सर्व मान्य धर्म :—

शारीरिक, मानसिक, आत्मिक; सामाजिक, आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय उन्नति के लिये निर्देशित कर्तव्य सब के लिए सेवनीय है।

विशेष धर्म—

न्यायाधीश :—

अपराधी को अवश्य दण्ड दे अन्यथा अपराध को प्रोत्साहन मिलेगा।

व्यापारी —

उचित मुनाफे की इच्छा।

वकील :—

असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिये केस न लेना।

नेता :—

वही कर्तव्य होता है जो एक राजा का प्रजा के प्रति होना चाहिये।

कर्मचारी —

जिस किसी कार्य के लिये नियुक्त हुआ है शरीर मन वाणी से वह कार्य करना उसका महान धर्म है।

कृषक :—

श्रम से अन्नोत्पादन उसका महान तप है और राष्ट्रोन्नति के लिये योगदान।

राष्ट्र और धर्म :—

धर्म को पारलौकिक समझ कर, विशेष जन समुदाय की संपत्ति समझ कर, विवाद की वस्तु समझ कर, राज नेताओं ने धर्म निरपेक्ष प्रजातन्त्र की स्थापना की है। कोई भी तन्त्र हो धर्म को पृथक करना, शरीर से प्राण को निकालना है। समाजरूपी हरेभरे

वृक्ष के मूल में अग्नि प्रज्वलित कर पत्तो पर जल छिड़कना है। धर्म न विवाद की वस्तु है, न विशेष जन समुदाय की सम्पत्ति है, न केवल पारलौकिक वस्तु। धर्म उन कर्तव्य कर्मों का नाम है जिस से शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय उद्गति हो। विश्व मानव स्थैर्य प्राप्त कर सुखानुभूति करे। विश्व बन्धुत्व की वृद्धि हो। जब तक मनुष्यों में वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न होकर उनमें स्वमेव परिवर्तन नही होता तब तक विश्व और मानव समाज में शान्ति का सपना देखना मूर्खता है। विधान बनाने से ही काम नही चलेगा। लाखो व्यवस्था करने से, विधान बनाने से, आयोग पर आयोग गठित करने से काम नही चलेगा। समस्या सुलझने के बजाय उलझनी ही रहेगी, ईश्वर करे राज नेताओं के नेत्र खुले, धर्म के आन्तरिक स्वरूप को समझें वास्तविक रूप को जानें। राजनीति और धर्म एक दूसरे के सहयोगी हैं। हम विधान बनाते चले जाते हैं भारतीय समाज की प्रवृत्ति किधर है नही देखते। धर्म निरपेक्षता की बात करते हैं। बुद्धि के लिये दूसरे देशों का मुंह देखते हैं।

विश्व युद्ध की सम्भावना में क्या करें :—

सैन्य शक्ति को प्रबल कर अपने भारत रूप गृह की रक्षा करें और नव भारत का निर्माण करें, ऐसा वातावरण उत्पन्न करें जिस से वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न होकर प्रत्येक व्यक्ति जो भारतीय जन संख्या का इकाई हैं अपने कर्तव्य पथ पर चले और यह हमारा भारत विश्व का आदर्श देश बने। अपने प्यारे देश के लिये अपने को अर्पित करें, हमारी बुद्धि, हमारा बल देश के लिये हो।

बढ़े जिसके द्वारा सुख शान्ति,
करूं मैं ऐसा ही शुभ कर्म ।
विश्व में विकसे मानवता,
यही है मेरा पावन धर्म ॥
[स्वरचित धर्म द्रवी से]

अध्यापकों के लिये १२ सूत्री कार्य क्रम :—

१—बच्चों के प्रति सहानुभूति की भावना।
२—शिक्षात्मक नहीं प्रत्युत आदर्शात्मक दृष्टिकोण आत्मसात करना
३—अपने व्यक्तित्व को भूल कर अध्यापन।
४—चरित्र निर्माण व नैतिकता पर विशेष बल देना।
५—भय से नहीं हृदय से कार्य करना।
६—किसी कार्य को भार न समझ कर उससे आनन्द लेना।
७—स्वयं को परिश्रमी प्रकृति का बनाना।
८—प्रत्येक बालक को अपने बालक की भान्ति उसके कल्याण की बात सोचना।
९—शारीरिक एवं आत्मिक पवित्रता।
१०—राष्ट्रीयता की भावना दृष्टिकोण में रखते हुये विश्व कल्याण की भावना।
११—ईश्वर और धर्म के प्रति आस्था।
१२—आत्म संयम को प्रकृति में परिवर्तन।

भौतिकवादी दृष्टिकोण और ईश्वर की आराधना :—

आज के मानव समाज की प्रवृति प्रायः भौतिक वादी है, ईश्वर की सत्ता में अविश्वास करता है। और कहता है कि

मानवीय चेतना भौतिक द्रव्यों का परिणाम है। यहां मैं तर्क नही उपस्थित करता हूँ क्यों कि विषय गम्भीर हो जायेगा। कर्म फल संदेहात्मक दृष्टि से देखता है। किन्तु ईश्वरीय नियम ही ऐसा है कि स्वमेव उसे फल दे देता है। यदि हम ईश्वर की सत्ता पर विश्वास न करें तब भी ईश्वर को एक काल्पनिक केन्द्र बिन्दु मान कर यदि पूजा करें तो आराधना के क्षणों में व्यर्थ के प्रपंच, विवाद, तू तू मैं मैं, झगड़ों एवं अन्य दुर्घटनाओं से मुक्त हो जाते हैं। लौकिक लाभ भी है स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। ब्रह्मचर्य का पालन होता है, ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्राह्म आचरण, दैवी आचरण इससे सप्तम धातु शरीर में स्थायी रूप से स्थिर होता है। हम स्वस्थ रहते हैं स्वास्थ्य के बिना तो आप संसार में कोई भी सुख नहीं भोग सकते हैं यह क्या कम लौकिक लाभ है ? प्रश्न उठता है यदि हम पूजा करें तो किस प्रणाली को अपनावें, पूज पद्धति विभिन्न है पहले यह समझ लें, पूजा करना आपका मौलिक अधिकार है किसी वर्ग विशेष का नही। एक समय था समाज के कुछ स्वार्थी तत्वों ने एकाँगी कर दिया, इसका परिणाम अच्छा सिद्ध नही हुआ। नास्तिकों से मानव समाज की जितनी हानि हुयी उतना किसी दूसरे से नही। ऐन्द्रिक सुख भोग की बड़ी बड़ी इच्छायें लेकर क्रूरों ने प्राणियों को अपनी इच्छा का दास बनाकर दुख दिया है। दृष्टान्त देने की आवश्यकता नही है। इतिहास साक्षी है। एक व्यक्ति पूजा करने बैठे और दूसरे लोग स्वेच्चारी हों तो समाज में विघटन होगा, शान्ति नहीं। 'अशान्ति धर्म का विरोधी तत्व है'

पूजा का प्रकार :—

यह आपके रुचि पर निर्भर है किन्तु केनोपनिषद् की घोषणा को स्मरण रक्खें :—

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति ।
तदेव ब्रम्ह त्वम् विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

[केनोपनिषद् । ६]

शब्दार्थ :—

यत (जो) चक्षुषा (आंखों से) न (नहीं) पश्यति (देखता है, देखा जाता है) येन (जिससे) चक्षूंषि (आंखे) पश्यति (देखतीहैं) तत [उसे] एव [ही] ब्रम्ह [ईश्वर] त्वम [तू] विद्धि [समझ] न [नही] इदम् [यह] उपासते [आराधना करते हैं पूजा करते हैं]

भावार्थ :—

जो ब्रम्ह आँखो से नही देखता अर्थात साकार नही है, न इन्द्रियों से देखा जाता है ? परन्तु जिसके नियमों से शक्ति पाकर आँख देखती है और उसकी सहायता से सब जीव वस्तुओं का ज्ञान, ज्ञानेन्द्रियों (आंख, कान, जिह्वा, नाक और त्वचा) द्वारा प्राप्त करते हैं, तू आंख को शक्ति देने वाले ब्रम्ह को समझ। जिन आंखों से दृष्टव्य (देखने योग्य) वस्तुओं की उपासना (पूजा) करता है वह वास्तव में ईश्वर नही है।

यदि संसार का प्रत्येक प्राणी कुछ क्षण पूजा में लगा दे तो सहस्त्रों समस्यायें संसार की स्वमेव सुलझ जायेंगी। पूजक व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन अवश्य होगा। आज का व्यक्ति तो स्वार्थ की पूजा, व्यक्ति की पूजा, धन की पूजा, दल की पूजा में लगा उद्विग्न चित्त है। वेचैन चित्त वाला संसार का भला क्या कर सकता है जो अपना ही कल्याण नहीं कर सकता। ईश्वर सबको विमल बुद्धि दे यह मेरी कामना है।

दूसरे के ज्ञान पर अवलंबित तथा अनुकरण प्रिय मानव समाज का भविष्य कैसा होगा ? भगवान ही जाने।

भद्र भावना

Good Wishes

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत्॥

अर्थः—सभी सुखी स्वस्थ हों; सभी भद्रता का दर्शन करें और कोई भी दुःख का भावी न बनें।

May all be success ful and healthy. May good fortunes visit to all for ever No one ever be the subject of calamity.

चतुर्दश किरण

ज्ञान यज्ञ :——

सर्व व्यापिनी, ज्योतियों की दिव्य ज्योति, एवं विश्व का नियमन करने वाली शक्ति जो ज्ञानमयी सत्ता है वही ब्रम्ह है जो एक देशीय, एक स्थानीय, एक वर्गीय नही है। जिसका क्रय विक्रय नहीं होता, जो मन्दिर, मस्जिद तथा गिरजा घर के अन्दर भी है बाहर भी है। जब मनुष्य मंदिरके भीतर जाता है तब उसके मनका ध्यान एक स्थान पर केन्द्रित हो जाता है उसको किसी सीमा में बाँधना या मन्दिर में स्थापना करना स्थूल बुद्धिमता है, श्रद्धात्मक है किन्तु प्रज्ञात्मक नही है। एक स्थानीय स्वीकार करना बुद्धि पर कुल्हाड़ी मारना है निर्बुद्धिता है।

ईश्वर सर्वोत्कृष्ट धर्मात्मा है। अधिष्ठित प्रकृति की निसृष्ट विभूति प्राणियों को नित्य समर्पित कर रहा है। वह स्वयं ब्रम्ह चक्र रूप यज्ञ का कर्त्ता है। दान धर्माङ्ग है वह महादानी है स्वाश्रित प्रकृति द्वारा दान यज्ञ का संपादन करवा रहा है। दान से अर्थनीति सुव्यवस्थित होती है संतुलित होती है जिसके कारण युद्ध की तैयारी हो रही है राष्ट्रीय तनाव होता है। शीत युद्ध होता है।

वह जितनी विभूति प्राणियों को दे चुका है और भविष्य में देगा वह अनन्त है उसका विभव निस्सीम है। हे मानव तेरा बौद्धिक

आर्थिक, शारीरिक शक्ति एवं सौम्यताका दर्प व्यर्थ है। ओ अहंकारी जीव तू अपनी पृष्ठ भाग को भी नही देख सकता, तेरी शक्ति क्या है? क्यों अपने नेत्रों को मूंदकर उसके द्वारा भव में उद्भूत भूतों पर भृकुटी वंकिम करता है। प्रकृति विभूति के किसी भी वर्ग के दान यज्ञ पर दृष्टिपात कर जितना दान वह कर रहा है तेरे भौतिक नेत्रों में उतनी शक्ति नही कि तू देख सके. उसके एक कण की कृपा का अनुभव कर। आम्र के वृक्ष में असंख्य फल लगने की क्या आवश्यकता थी, एक ही फल लगता तब भी उसकी वंशावली चल सकती थी, किन्तु तुझे पालना था उसकी नियमन शक्ति ने ऐसा प्रबन्ध कर रक्खा है। तू नास्तिक होकर प्रकृति की पूजा भी नही कर पा रहा है। धर्मात्मा बनता है बाह्याडम्बर से? तू उस दिव्य दृष्टि को प्रवंचना दे रहा है जो तेरे प्रत्येक गुप्त क्रिया कलाप से पूर्ण अवगत है तथा निरीक्षण करता है तब वह मृत्यु द्वारा बलात् दान करवा लेता है तेरा समस्त वैभव स्वतः छूट जाता है, अर्थ व्यवस्था को संतुलित करने के लिये दान यज्ञ से उच्चतम और व्यवस्था नही है। दान से मनुष्य का एक आनन्द प्राप्त होता है जिसे सात्विक आनन्द कहते हैं. किसी अभाव ग्रस्त व्यक्ति को कुछ देने के पश्चात् यदि तेरे अन्तस्तल में स्वाभाविक रूप से प्रसन्नता हो तो समझ ले कि तेरे अन्तः करण की निर्देशिनी वृत्ति तुझे धर्म के पथ पर चलने के लिये तुझे प्रेरित करती है। तेरी अन्तश्चेतना धर्माधर्म की परिभाषा लिखती है। जब समाज ने स्वार्थ को लेकर धर्म के वास्तविक स्वरुप को बदल दिया, और मात्र उदर पूजन का माध्यम बनाया. अन्तः करण के भावों को न परिवर्तित कर शरीर को धर्म के नाम पर अलंकृत किया तो समाज ने उसे निन्दित कर दिया। और

उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा धर्म उपेक्षा की वस्तु नहीं वह तेरा प्राण है जिससे तेरा और तेरे समाज का श्वास प्रश्वास संचालित होता है विश्व में जिससे शान्ति की स्थापना होती है। धर्म से मानव में उदात्त भावनायें जागृत होती हैं चलाचल सम्पत्ति युद्ध का कारण नहीं, धर्म तत्व से अपरिचित न होने के कारण तेरा विवेक ही कारण है संसार की भोग्य वस्तुयें केवल तेरे लिये नहीं समस्त प्राणियों के लिये दान स्वरुप प्रभु ने भेंट की है, दूसरे का धन हड़पने का विधान मानवी है, ईश्वरीय विधान उसका कार्य तो निर्देश दे रहा है कि हे मनुष्य तू दान कर। जितना मैंने दिया है उसका एक कण ही दान कर। तेरे सामाजिक जीवन में मधुरता आयेगी तू सुखी होगा। संसार का समस्त वैभव प्रजा पालक परमेश्वर का है उसी ने उत्पन्न किया है भोग्य वस्तुयें भोक्ता के पहले ही उत्पन्न किया था, अपने प्राणियों के लिये, और उद्भूत करेगा। प्राणियों के जीवन का आधार क्या होता यदि पूर्व भोक्ता होते और तदन्तर भोग्य वस्तुयें होतीं ? इस रहस्य को ऋग्वेद ने उद्घाटन किया है :—

सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व ही प्रकृति विकृति कर प्राणियों के लिये प्रथित पृथ्वी पर बिखरा दिया था असंख्य फल, फूल, वनस्पतियां इत्यादि ।

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस् त्रियुगं पुरा।
[ऋग्वेद १०।९७।१]

अर्थ— जो औषधियां पहले उद्भूत हुयीं तीन युग पहले।

वह परम ज्योति परमेश्वर तुझ से कहता है कि तू दान कर। जब भारतीय मनीषी, द्रव्यपति दान करते थे तो धन की संतुलित स्थिति के लिये विधान नही बनाना पड़ता था। उस प्रभु ने तुझे दिया है तू भी दे।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम ॥

[यजुर्वेद अध्याय ४०।१]

पदार्थ—[इदं सर्वम] यह सब [यत्किञ्च] जो कुछ [जगत्याम] सृष्टि में [जगत] चराचर वस्तु है [ईशा] ईश्वर से [वास्यम] जिसमें ईशन शक्ति है उसी के आधीन रहने योग्य है। [तेन] उस ईश्वर से [त्यक्तेन] परित्यक्त पदार्थ से दी हुयी वस्तुओं से। [भुञ्जीथाः] भोग कर [कस्यस्वित] किसी के भी [धनम] धन का [मा गृधः] लालच मत कर।

भावार्थ—यह दृश्यमान सब और जो कुछ भी त्रिलोकी में जगत है-अखिल विश्व है, वह सब कुछ ब्रम्ह से आधारित है, बसने योग्य है। उस में परात्पर ब्रम्ह स्वशक्ति, सत्ता से विद्यमान है। भगवान के नियम नियंत्रण में सम्पूर्ण संसार है। वही सम्पूर्ण विश्व में बसी हुयी चेतना जगत का आत्मा है। उत्पत्ति स्थिति लय उसी मूल सत्ता के आश्रित है, सर्व समर्थ, सर्व शक्तिमान भगवान सारे संसार का स्वामी है। तथा संचालक है सब पदार्थ उसी के हैं, इस भावना मय त्याग से, हे उपासक तू पदार्थों

को भोग, दान देकर भोग, सब भोग भगवान् की देन जान। तू मत ललचा, वस्तुओं की संग्रह, संयम की लालसा न कर। तू विचार करके देख, धन किसका है? सब पदार्थ परमेश्वर ही के हैं। इस मन्त्र में आर्थिक नीति की कितनी सुन्दर विवेचना है।

करें हम ऐसा पावन कर्म,
विश्व में भारत हो आदर्श।
स्वयं की संपति शक्ति सुबुद्धि
दुखी को देते रहें सहर्ष।

(स्वरचित धर्म द्रवी से)

मनुष्य का आन्तरिक रूप उसका वास्तविक वेष है। [लेखक]

जाया पत्ये मधुमतीम् वाचं वदतु शन्तिवाम्।
अर्थ :— स्त्री पति से मधुरता पूर्ण शान्ति युक्त वाणी बोले।

(अथर्ववेद)

जब तक नैतिक उत्थान नहीं होगा शान्ति का स्वप्न आकाश कुसुम है।

[लेखक]

जो कुछ तू करता है वही तेरा भाषण है। (लेखक)

जो समस्त ससार के मनुष्यों को अपना परिवार समझता है वह देव के तुल्य है।

(लेखक)

स्मरण रक्खो कर्म बीज बिना उगे नहीं रहता। (लेखक)

कर्मों की ध्वनि वाणी से कहीं उच्च होती है। (लेखक)

सत्य को ग्रहण और असत्य को त्यागने के लिये सदैव उद्यत रहना चाहिये। (महर्षि दयानन्द सरस्वती)

यदि तू सच्चा धार्मिक नेता है तो ऐसा आदर्श उपस्थित कर कि तेरा सब अनुकरण करें, किसी की निन्दा करना तेरा धर्म नहीं।

(लेखक)

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो वुरीत सख्यम।
विश्वो रायऽइषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्य से स्वाहा॥
(यजुर्वेद)

मनुष्य गण, सर्व नियन्ता और नेता उस परमात्मदेव की मित्रता स्वीकार करें, वरें या चाहें। धन की प्राप्ति सभी चाहते हैं किन्तु शरीर और आत्मा की पुष्टि के लिये धन को सत्य क्रिया द्वारा ही चाहें।

❋ समाप्त ❋

१— धर्म तत्व विवेक (गद्यात्मक)

२— युग की रूप रेखा (पद्यात्मक)

३— वेदाङ्ग निरुक्त (गद्यात्मक)

४ — ज्योतिर्मयी (पद्यात्मक)

५— मधुरिमा (पद्यात्मक)

६— मंदाकिनी (पद्यात्मक)

७— सूनरी (पद्यात्मक)

भारत का भविष्य उज्ज्वल हो !

आज कल सामाजिक तत्वों को विकृत करने वाली पुस्तकों की भरमार है जिनसे भारतीय जनता पर अच्छा प्रभाव नही पड़ता है, वे राष्ट्र के नैतिक उत्थान में बाधक स्वरूप हैं। अतः यदि आप चाहते हैं कि व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र में नैतिकता का विकास हो, सुख शान्ति की वृद्धि हो तो प्रकाशनार्थ अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार धन दान दीजिये। धन का दुर्पयोग नही होगा, वैचारिक क्रान्ति कर राष्ट्र के निर्माण में सहायक हों।

विनम्र विनयी :—

सन्तराम ग्राम हाथी गर्दा, पो० बलरामपुर जि० गोण्डा

१५५ महानुभावों ने दान दिया है।

[दिनांक ३१-१२-७७ तक]

दान दाताओं की सूची लेखक के पास है।

अशुद्ध शोधन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११७	७	कल	फल
११७	१३	(करता है) के आगे छूट गया है :—	"जब तू दान नहीं करता है"
१२०	२	संयम	संचय
११३	१३	पूज	पूजा
१२०	१८	ससार	संसार
		स्वेच्चारी	स्वेच्छाचारी
		च पर ओ की मात्रा द मात्र [मीमांसा सूत्र में]	

शेष नगण्य

१

ज्ञान कर्म हो साथ साथ दो—
ज्योति जले इस जीवन में।
जीवन पथ मेरा हो समतल—
मैं बढ़ूँ ज्ञान दूँ जन मन में।

२

करूँ मैं शुचि ग्रन्थों का पाठ—
करें जो भावों को उदात्त।
त्याग दूँ अश्लील साहित्य—
नया युग आये नव्य प्रभात।

[स्वरचित युग की रूप रेखा से]
—लेखक

१

ज्ञान कर्म हो साथ साथ
ज्योति जले इस जीवन
जीवन पथ मेरा हो समतल—
मैं बढ़ूँ ज्ञान दूँ जन मन में।

२

करूँ मैं शुचि ग्रन्थों का पाठ—
करें जो भावों को उदात्त।
त्याग दूँ अश्लील साहित्य—
नया युग आये नव्य प्रभात।

[स्वरचित युग की रूप रेखा से]

—लेखक